निबंध-शेखर

[उच्चकोटि के साहित्यिक हिंदी निबंधों का संग्रह]

डा० धीरेन्द्र वर्मा पुस्तक-संग्रह

लेखक—

श्री महेशचंद्र गर्ग एम० ए०,

भू० पू० साहित्यान्वेषक, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी

हिंदी-प्राध्यापक

राज० उ० मा० विद्यालय, एटा।

प्रकाशक

भारती, प्रकाशन मंदिर, एटा

प्रकाशक—
भारती प्रकाशन मंदिर,
एटा

प्रथमावृत्ति मार्च १९५६
मूल्य ३॥)

मुद्रक—
मौडर्न प्रिंटिंग वर्क्स,
अलीगढ

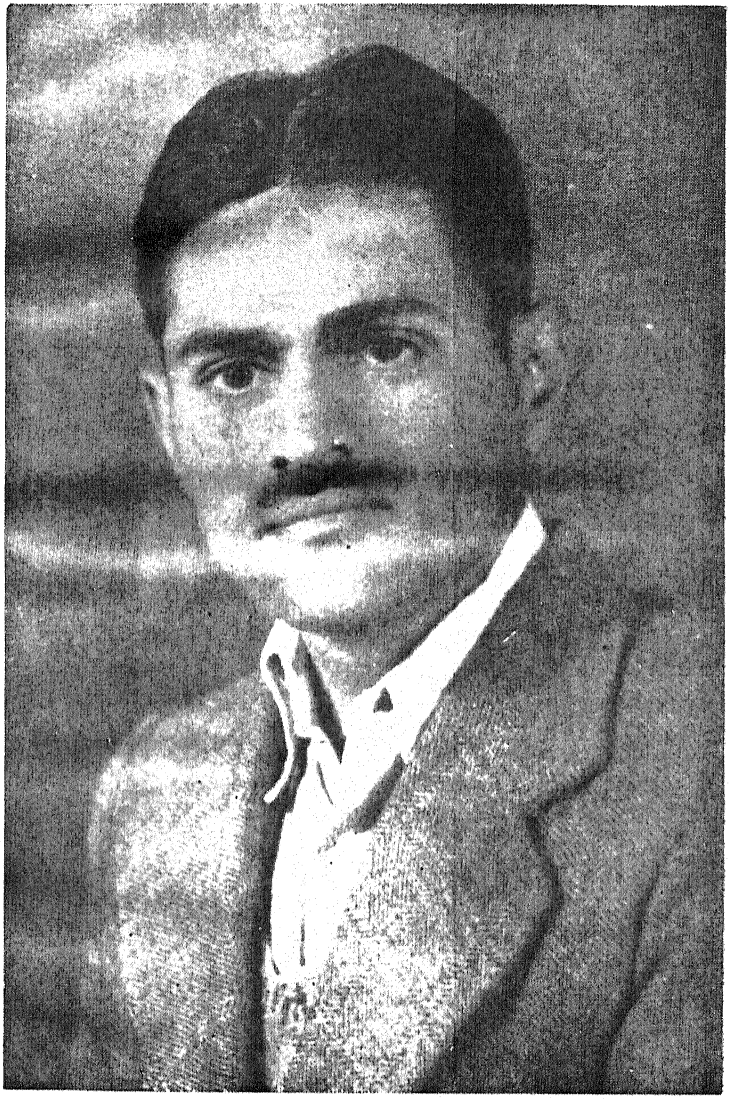

लेखक—
श्री महेशचंद्र गर्ग, एम० ए०

परम श्रद्धेय
अग्रजवर श्री चुन्नीलाल गर्ग को,
जिनका अनुपम स्नेह
मेरे अतीत
की
मधुरतम
स्मृति
है !

दो शब्द

श्री महेशचंद्र गर्ग ने "निबंध-शेखर" शीर्षक अपने निबंधों का संग्रह दिखाने का कष्ट किया। आज कल "निबंध-साहित्य गंभीर आलोचना की ओर झुकता जा रहा है। इस प्रवृत्ति के विपरीत गर्ग जी के निबंध एक सुखद स्वच्छंदता और निजीपन, जो निबंध के आवश्यक उपकरण कहे जा सकते हैं, लेकर आये हैं। साथ ही उनमें साहित्यक पुट पर्याप्त मात्रा में है।

गर्ग जी के संग्रह में भी कुछ निबंध आलोचना प्रधान हैं। वे गंभीर चिंतन से प्रभावित हैं किंतु चिंतन ने उनकी अभिव्यक्ति के सहज प्रवाह को कुंठित नहीं किया है। इन निबंधों में "एष पंथा" जैसे आध्यात्मिक और "कौवा," "बदमाश," "लत," "चोरी" और "जी" आदि लेख साहित्यक मनोरंजनपूर्ण निबंध हैं। कौवे को निबंधकार ने बड़ी सहृदय दृष्टि से देखा है और उसकी कालिमा में भी एक स्वर्ण-रेखा के दर्शन किये हैं। "कवि के जीवन की विडंबना" शीर्षक निबंध में कवि-जीवन के अभावमय पक्षों का करुणापूर्ण चित्रण किया गया है।

गर्ग जी के निबंधों में यद्यपि ऊँचाई की ओर उड़ान है, तथापि उनका आधार साधारण जीवन की भाव-भूमि ही है। लेखक ने अपनी शैली को एक विशिष्टता प्रधान की है और उसी के कारण उसके निबंध कहलाने योग्य बन गये हैं। मैं आशा करता हूँ कि ये निबंध हिंदी-जगत में आदरपूर्ण स्थान प्राप्त करेंगे।

—गुलाबराय

गोमती - निवास,
दिल्ली - दरवाजा,
आगरा,
२२ जनवरी १९५६।

निबंध शेखर

लेखक—श्री महेश चन्द्र गर्ग एम० ए०

हिंदी में निबंधों का प्रादुर्भाव भारतेंदु हरिश्चंद्र के सामने ही हुआ था, और उसी समय पं० प्रताप नारायण मिश्र एवं बालकृष्ण भट्ट आदिक लेखकों ने उसकी श्री-वृद्धि में योग दिया था। बाद में बाबू बालमुकुंद गुप्त, सरदार पूर्ण सिंह बख्शी और गुलाब राय जैसे कुछ सहृदयों को छोड़कर बहुत कम लोग इस क्षेत्र में उतरे जिससे साहित्य के इस अङ्ग का परिपाक तो क्या परिस्फुटन भी न हो पाया। आगे जिन्होंने प्रयास किया भी उनमें से कुछ तो मनोवेगों के असंयत एवं असंबद्ध प्रवाह को ही निबंध समझते रहे और कुछ उसे "नूतन श्रम-साध्य-उपलब्धि" कहकर प्रस्तर प्रतिमाओं के निर्माण में संलग्न रहे। निदान एक का विद्वानों ने स्वागत न किया और दूसरे का लोक ने। निबंध क्या है, यह सहसा न भी कहा जा सके तो भी वह सचमुच न तो बौद्धिक शैथिल्य किंवा अनर्गल प्रलाप है और न शुष्क, गूढ़-गुंफित तत्व-चिंतन। इसलिए कि अंततोगत्वा वह दार्शनिकों की कसौटी नहीं, है कवियों की ही कसौटी। सुतरां उसमें हृदय और मस्तिष्क दोनों का अपूर्व योग वांछनीय है। जहाँ विषय रोचक, भाषा चित्रमयी और भाव अनूठे होने के साथ गहन एवं सुसंबद्ध होंगे वहीं निबंध की वास्तविक सृष्टि होगी, अन्यत्र नहीं। "निबंध-शेखर" की अधिकांश रचनाएँ इस कसौटी पर खरी उतरती हैं। साथ ही उनमें विनोद है, व्यंग्य है और सबसे बढ़कर है निर्व्याजीक, निर्व्याज आत्मीयता जो निबंध का जीवित है। श्री गर्ग में एक सच्चे निबंधकार की प्रतिभा है, इसमें संदेह नहीं। साथ ही वह हिंदी के मर्मज्ञ विद्वान और समर्थ भाषा-शिल्पी हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि उन्होंने निबंध के तत्व को समझकर ही अपने निबन्ध लिखे हैं। उनके द्वारा प्रस्तुत "निबन्ध शेखर" की कुछ रचनाएँ जैसे "लत" "चोरी", "चाय का प्याला", "बदमाश", "जी", "कौवा", "कोयल", "आज नकद कल उधार" और "मेरे गांव का पीर बादल सा" हिंदी निन्बध साहित्य की मूल्यवान अथच स्थाई संपत्ति हैं। हमारा गर्ग जी से अनुरोध है कि वह इसी प्रकार के और अधिक निबन्ध लिखें जिससे हिंदी के लेखकों को अपने साहित्य में निबन्ध के अभाव को दूर करने की प्रेरणा मिले।

देवीदत्त शुक्ल,
भू० पू० सम्पादक, सरस्वती
प्रयाग।

दिखा
की इ
एक
उपक
साहि

चिंतन
प्रवाह
आध्या
आदि
ने बड़ी
स्वर्ण-रे
निबंध
किया ग

गर्ग
उनका
अपनी इ
उसके नि
निबंध हि

दि

निवेदन

: अ :

"निबंध-शेखर" समय-समय पर लिखे गये मेरे साहित्यिक निबंधों का संग्रह है। इनमें से कुछ निबंध ऐसे हैं जिनको मैंने अभी कल ही समाप्त किया है, और कुछ ऐसे जो आज से प्रायः पंद्रह-सोलह वर्ष पूर्व मेरे एम० ए० के विद्यार्थि-काल में लिखे गये थे। "साकेत में कैकेयी" और "साहित्य में अनुकरण और मौलिकता" दो पिछले प्रकार के ही निबंध हैं। अतः मेरे इस प्रयास का इतिहास कम से कम इतना पुराना तो है ही, पर यदि वह इससे भी पुराना कहा जाय तो अत्युक्ति न होगी। सच तो यह है कि निबंध-लेखन प्रारंभ से ही मेरी प्रमुख अभिरुचि रहा है। विद्यार्थि-जीवन में, जहाँ वे लिखे क्या लिखाए ही जाते हैं, मुझे स्मरण नहीं कि उनके कारण मुझे कभी ग्लानि किंवा मानसिक शैथिल्य की प्रतीति हुई हो। उलटे कभी-कभी तो कक्षाओं में दिये गये विषयों के कुछ अतिरिक्त संस्करण मुझे अपने दो-एक आलसी और निठल्ले साथियों के निमित्त प्रस्तुत करने पड़ते थे, और भरसक इस बात का ध्यान रखना पड़ता था कि वे एक दूसरे से कहीं ज़रा भी मिल न जांय। कहना न होगा कि इससे मेरी अभिरुचि को स्वतः न केवल परिपुष्ट होने का अवसर मिला प्रत्युत लेखनी में भी निरन्तर परिमार्जन के कारण यत्किंचित प्रौढ़ता आई।

अस्तु, अपने अतीत का सिंहावलोकन करने पर कुछ ऐसे प्रारंभिक निबंधों की स्मृति मुझे मोहवश निरंतर होती है जो यत्किंचित विशेष रुचि और मनोयोगपूर्वक लिखे गए थे। इस प्रकार का पहला प्रयास था "ब्रह्मचर्य और विद्यार्थि-जीवन" जिसे मैंने संभवतः आठवीं अथवा नवीं कक्षा में लिखा था। उसका आधार स्वामी शिवानंद जी कृत "ब्रह्मचर्य ही जीवन है" नामक पुस्तक थी। पश्चात् दसवीं में "आकस्मिक घटनाओं का जीवन के साथ संबंध" और बारहवीं में "अतीत की एक मधुर स्मृति" लिखे गए। काश, मेरे वे बाल-प्रयत्न आज सुरक्षित होते!

हाँ, मेरे विद्यार्थि-कालीन निबंधों में "साहित्य में अनुकरण और मौलिकता" का इतिहास कुछ विशेष रोचक होने के कारण उल्लेखनीय है। तब

मैं प्रयाग विश्वविद्यालय में एम० ए० फाइनल (हिंदी) का विद्यार्थी था और हिंदु-हास्टल में रहता था। उन दिनों आचार्य पं० चंद्रबली पांड़े राष्ट्र-भाषा के प्रश्न को लेकर हिंदी के लिए बड़े जोरों से काम कर रहे थे। इस संबंध में जब वे काशी से प्रयाग आते तो कभी-कभी मेरे यहाँ ठहरने की कृपा करते थे। एक बार मैंने उन्हें अपना उक्त निबंध पढ़ने के लिए दिया तो देखकर बड़े प्रसन्न हुए और बोले-"आज मालूम हुआ कि यहाँ भी हिंदी के कुछ अच्छे विद्यार्थी पढ़ने के लिए आ जाते हैं।" मैंने कहा "जी, पढ़ने तो नहीं, हाँ गुनने चले आते हैं।" पांडे जी बात का रुख अपनी तरफ फिरते देख ठठाकर हँस पड़े और मुझे भी खूब हँसी आई।

निस्संदेह, अपने विद्यार्थि-जीवन की निरंतर उच्च सफलताओं को देखकर मैं भी अपने भविष्य की कुछ कमनीय महत्वाकांक्षाओं को लेकर आगे बढ़ा था। लेकिन, एक बुरी और आखिरी ठोकर ने उन महत्वाकांक्षाओं को निर्दयतापूर्वक कुचलकर हमेशा के लिए दफना दिया। मैं इसके लिए तैयार न था और न मुझे इसका भान था। पर होतव्यता जाती कहाँ ?...हाँ इसे होतव्यता ही कहूँगा, जब तक विश्वास है कि "कृत का नाश नहीं हो सकता और अकृत का अभ्यागम।" अन्यथा कहने को तो कुछ और ही जी चाहता है, और वह यह कि दुर्भाग्य से आज इस बीसवीं शताब्दी में भी हमारे समाज का संगठन उसी गले-सड़े निकम्मे ढाँचे पर है जिसमें मनुष्य मनुष्य होकर नहीं ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और न जाने क्या-क्या होकर ही जीना चाहता है। वह इस तरह कब तक जीएगा भगवान् जाने !... खैर, उस ठोकर से मैं अपने को सँभाल न सका। मेरे जीवन का शीराज़ा बिखर गया। मुझे ऐसा प्रतीत हुआ मानों अँधकार की काली-काली डरावनी घटाओं ने मुझे एक साथ चारों ओर से घेर लिया हो। उन घटाओं में रह-रहकर कभी बिजली जरूर चमकती थी किंतु इसलिए नहीं कि उससे मुझे कुछ प्रकाश मिलता बल्कि इसलिए कि वह उस अंधकार की भयावहता को और भी बढ़ादे और अगर हो सके तो मुझे अकस्मात् छूकर खत्म करदे।

निदान में गिरा और गिरकर चूर-चूर हो गया। मेरा आत्म-विश्वास खो गया। जीवन के मार्ग को तय करते हुए फिर कभी मैंने यह अनुभव न किया कि मेरे पैरों के नीचे फूल भी बिछे हैं। पर कांटे ?...वे कहाँ नहीं रहे... आगे,पीछे, इधर, उधर, सभी जगह। उन्होंने मेरे पैरों को बींध-बींधकर छलनी करदिया और साथ ही मेरे बाजुओं को निकम्मा। यह तो नहीं कह सकता कि

मेरे जीवन में आशाएँ नहीं जगीं। जगीं तो, और उन्होंने मेरे अंतस्तल को गुदगुदाया भी, किंतु क्षण भर बाद ही वे इस प्रकार विलीन हो गईं जैसे किसी पुष्करिणी में वायु के संघात से उठी हुई छोटी-छोटी लहरें उठने के साथ ही डूब जाती हैं। साथ ही मेरा हताश जीवन कभी कोई ऐसा दृढ़ आधार न पा सका जिसका सहारा मैं जब-तब इसलिए तो ले सकता कि आगे बढ़ने और कठिनाइयों से जूझने के लिए दम लेलूँ। आधार रहा भी और पक्का पर शायद इतनी ही देर कि मैं सोते से जगूं और उस सुनहले स्वप्न के हठात् खोने के लिए जीवन भर रोता रहूँ। अब तो वह आलम है कि—"भीड़ की भीड़ है, तनहाई की तनहाई !"

मेरे विगत पंद्रह-सोलह वर्ष के घोर संघर्षमय जीवन की ऐसी सटीक और मार्मिक व्याख्या दूसरी न होगी:—

कहा न कियो, कहाँ न गयो सीस काहि न नायो ?
राम रावरे बिन भये जन जनमि-जनमि जग, दुख दसहूँ दिसि पायो ॥
आस-बिवस खास दास ह्वै नीच प्रभुनि जनायो।
हा-हा करि दीनता कही द्वार-द्वार बार-बार, परी न छार मुंह बायो ॥
असन-बसन बिन बावरो जँह-तँह उठि धायो।
महिमा-मान प्रिय प्रान ते तजि, खोलि खलन आगे खिनु-खिनु पेट खलायो !

अस्तु जीवन के प्रायः मध्यान्ह में अपने इन कतिपय निबंधों को हिंदी-जगत के आगे प्रस्तुत करते हुए मुझे किसी प्रकार की प्रसन्नता नहीं है। हाँ, संतोष अवश्य है कि अपनी लेखनी के माध्यम से मैंने राष्ट्र-भारती की आज तक जो कुछ सेवा की है उसका एक अंश संसार के आगे आ रहा है - उस संसार के आगे जिसका न्याय केवल विडंबना और जिसका विवेक निरी निरंकुशता है।

अतः, "निबंध-शेखर" मेरे मस्तक पर निरंतर निर्दयतापूर्वक प्रहार करने वाले संसार के चिरवंदनीय चरणों की धूलि है। सुनते हैं, धूलि में सोना होता है, चाँदी होती है, बहुमूल्य मणियाँ होती हैं। अगर इसमें भी वे चीजें किसी सहृदय पाठक को ढूंढें मिल जाँय तो अहोभाग्य, अन्यथा अपना मन तो मान ही चुका है:—

तेरे फूलों को भी प्यार !
तेरे कांटों को भी प्यार !!

: आ :

निबंध-शेखर में मेरे निम्न-लिखित सत्ताईस निबंध संगृहीत हैं—

१—साकेत में कैकेयी
२—साहित्य में अनुकरण और मौलिकता
३—दीपक देवता की आत्म-कहानी
४—मेरे गाँव का पीर-बादल्ला
५—मुजफ्फर नगर से देवबंद
६—चतुर बया
७—एष पंथा
८—सफल कहानी के अवयव और उपादान
९—स्वर्ण विहग-सवैया
१०—दानाराम
११—सत्यमेव जयते
१२—पटवारी ताऊ
१३—कौवा
१४—आज नकद कल उधार
१५—बदमाश
१६—जी
१७—ब्रज का महत्वपूर्ण स्थान बरहद
१८—कविवर बनारसीदास जैन
१९—लत
२०—चाय का प्याला
२१—चोरी
२२—कवि के जीवन की विडंबना
२३—एटा का प्रसिद्ध शिव-पीठ परसौन
२४—ध्वंस-शेष अतरंजी खेड़ा
२५—जूता
२६—आचार्य श्री हित हरिवंश महाप्रभु
२७—कोयल

रचना - काल की दृष्टि से इनका यही क्रम है। हाँ विषय और प्रतिपादन की दृष्टि से इन्हें कदाचित भिन्न कोटियों में रखा जा सके। उदाहरण के लिए "मुजफ्फरनगर से देवबंद," "चतुर बया," और "एटा का प्रसिद्ध

शिव-पीठ परसौन" जैसे निबंध वर्णनात्मक ही कहे जाएंगे । "साकेत में कैकेयी," "साहित्य में अनुकरण और मौलिकता," "एष पंथा," "सफल कहानी के अवयव और उपादान" विचार-प्रधान तथा "मेरे गाँव का पीर बादल्ला," "स्वर्ण विहग - सवैया" और "लत" भाव-प्रधान होंगे। यह मैं नहीं जानता कि मेरा यह वर्गीकरण कहाँ तक यथार्थ और युक्ति-संगत है क्यों कि इनमें से अधिकांश के बारे में इदमित्थं कहना वास्तव में कठिन है कि वे किस कोटि में आते हैं।

निबंध क्या है, यह तो मैं शायद नहीं कह सकता। कहना भी नहीं चाहता। इसलिए कि इस प्रकार की चेष्टा का अर्थ दुस्साहस के सिवा कुछ न होगा। निबंध के जन्म से लेकर आज उसके विकास-काल तक भी उसकी कोई ठीक और सर्व-मान्य परिभाषा आ नहीं सकी। विद्यापति के शब्दों में मानों - "सभी विदग्ध जन रस का अनुमोदन मात्र करते हैं उसका यथावत अनुभव किसी को नहीं !" सुतरां निबंध के लचीले कलेवर में रूखी-सूखी आलोचना से लेकर कथा-कहानी, संस्मरण रेखाचित्र, व्यंग्य, पत्र यहाँ तक कि भावना-संवलित गद्य-गीत आदि न जाने कितने गद्य-विधानों का समावेश कर लिया जाता है। ठीक या गलत, कौन कह सकता है ? इसलिये इतना ही कहना अलं और निरापद है कि वह लिखने का एक "प्रयास" है। मेरे निबंध भी निस्संशय मेरे लिखने के प्रयास हैं। इससे अधिक कुछ नहीं। इससे कम भी शायद कुछ नहीं। मौंतेन के शब्दों में "ये मेरी निजी भावनाएं हैं। इनके द्वारा मैं किसी नवीन सत्य के उद्घाटन का दावा नहीं करता। इनके द्वारा मैं अपने आपको विनम्रतापूर्वक पाठकों की सेवा में समर्पित करता हूँ।"

: इ :

"निबंध-शेखर" के लिए मैं सर्वप्रथम अपने गुरुजनों का ऋणी हूँ जिनके प्रातःस्मरणीय चरणों में बैठकर मैंने विद्योपार्जन किया है। पश्चात् मैं उन साहित्यकारों का ऋणी हूँ जिनके फूलों से मैंने मधु का संग्रह ही नहीं किया, रूप और रंग भी चुराया है। बेशक वह चोरी ऐसी नहीं जिसमें मुझे पकड़े जाने की शंका हो। मेरी रचनाओं के विषय मेरे हैं, भाव मेरे हैं, भाषा मेरी है। तात्पर्य यह कि प्रत्यक्ष किंवा परोक्ष में इनमें से प्रत्येक में मेरी वाणी का स्वर है, मेरे हृदय का स्पंदन है !

हाँ, इस अवसर पर कुछ सज्जनों के प्रति आभार प्रकट करना मैं अपना परम कर्तव्य समझता हूँ। आदरणीय कविराज डा० राजा राम शर्मा जो

बरेलीके एक अत्यंत सुयोग्य और प्रतिष्ठित चिकित्सक हैं और जिन्होंने हाल ही में मुझे अत्यंत कष्ट-साध्य रोग से मुक्त कर नया जीवन प्रदान किया है, कैसे भुलाए जा सकते हैं ? वे क्षण मुझे याद हैं जब मैं अत्यंत निराश और विपन्न होकर उनकी शरण में पहुँचा था। मेरी भयंकर दशा को देखकर लोगों को रोमांच होता था। पर मैं उनकी कृपा से चंगा हो गया और वह भी केवल मात्र तीन सप्ताह में जैसा उन्होंने अत्यंत विश्वस्त होकर आश्वासन दिया था। चिकित्सा-शास्त्र का ऐसा सूक्ष्म और विस्तृत परिज्ञान, अनौखी सूझ-बूझ, रोगी के प्रति प्रगाढ़ सहानुभूति, उन्मुक्त सेवा-भाव, अनुपम औदार्य और साथ ही विलक्षण व्यवहार-पटुता उन्हें छोड़कर मुझे किसी चिकित्सक में मिली नहीं। सोचता हूँ यदि उनका अनुग्रह न होता तो क्या यह अवसर भी आता ?

शील और सौजन्य की मूर्ति भाई हरनाथ सिंह सोलंकी मेरे धन्यवाद के अपर पात्र हैं जिन्होंने अपनी निसर्ग-सिद्ध अप्रतिम तूलिका से मेरे "निबंध-शेखर" की सौंदर्य-वृद्धि कर मेरे ऊपर महती कृपा की है। अंत में मैं अपना हार्दिक आभार प्रकट करता हूँ वयोवृद्ध साहित्यकार श्रद्धेय श्री गुलाब राय एम० ए० के प्रति जिन्होंने मेरी रचनाओं की उदार प्रशंसा करके न केवल मुझे प्रोत्साहित ही किया अपितु "निबंध-शेखर" के लिए "दो शब्द" लिखने का कष्ट करके मुझे नितांत उपकृत भी किया है।

एटा,
७-१२-१९५५।

महेश चंद्र गर्ग

विषय-सूची

निबंध-क्रम		पृष्ठ
१	लत	१
२	चोरी	५
३	चाय का प्याला	१०
४	बदमाश	१४
५	जी	२०
६	कौवा	२६
७	कोयल	३३
८	कवि के जीवन की विडंबना	३९
९	सत्यमेव जयते	४५
१०	मेरे गांव का पीरबादल्ला	५१
११	चतुर बया	५६
१२	मुजफ्फरनगर से देवबंद	६२
१३	एप पंथा	६८
१४	दीपकदेव-की आत्म-कहानी	७२
१५	जूता	७९
१६	आज नक़द कल उधार	८२
१७	दाताराम	८८
१८	पटवारी ताऊ	९३
१९	स्वर्ण-विहग सवैया	१०१
२०	साकेत में कैकेयी	११४
२१	साहित्य में अनुकरण और मौलिकता	१२१
२२	सफल कहानी के अवयव और उपादान	१२८
२३	कविवर बनारसीदास जैन	१३४
२४	आचार्य श्री हित हरिवंश महाप्रभु	१४१
२५	एटा का प्रसिद्ध शिव-पीठ परसौन	१५०
२६	ध्वंस-शेष अतरंजी खेड़ा	१५४
२७	ब्रज का महत्वपूर्ण स्थान—बरहद	१६२

—:—

: १ :

लत

लत और लात में बहुत थोड़ा अंतर है। इसलिए कि जब एक लग जाती है, तो दूसरी अपने आप खानी पड़ती है! मान लीजिए आपको बुरी संगति से कहीं राह-कुराह जाने की आदत पड़ गई, या कहीं देर-सवेर बैठकर रंगीन बोतलें खाली करने की कुटेब, तो क्या आप समझते हैं कि आपसे कोई कुछ न कहेगा?...आप कहेंगे पैसा किसका?...माना आपका।...शरीर किसका?...निस्संदेह आपका।...तबीयत किसकी?...बिलकुल आपकी।...पर फिर उधर बीबी किसकी?...जी?... घबरा गए!...जी हाँ, बिलकुल आपकी। और वे बच्चे?...वे भी आपके।...और वे भाई-बहन?...और ईश्वर बनाए रखे, वे मा-बाप?...वह बिरादरी?...और वह बृहत्तर मानव-समाज?...यह सब किसका?... आपका न? हां। अतः जब दुनिया में सभी-कुछ आपका है तो आप सर्व-सापेक्ष हुए, निरपेक्ष नहीं। मतलब - ठीक-ठीक तो आपका सब-कुछ, और ग़लत शायद कुछ भी नहीं। इसलिए कि यह संभव नहीं कि आप उचित-अनुचित, धर्म-अधर्म, लाभालाभ सबको तिलांजलि दे निरंकुश की नाईं जो चाहें करें और साथ ही यह भी आशा रखें कि कोई आपकी तरफ उंगली न उठाए!

आप कमाते हैं। ठीक है। दुनिया कमाती है। खेतों पर मेहनत से काम करते हैं। दुनिया करती है। दफ्तर में सुबह से शाम तक मग्ज-पच्ची करते हैं। सब करते हैं। आप कौन निराली बात करते हैं?

और फिर वह सब क्या इसलिए कि उसके फलस्वरूप जो कुछ प्राप्त हो वह स्वेच्छा-पूर्वक खर्च कर दिया जाय ?...एक पाई भी लौट कर घर न आए। जी ?...घर लौटकर आना तो क्या अगर किसी का देना भी हो जाए तो आश्चर्य नहीं। असम्भव क्या है ? आख़िर शौक ही ठहरा न ?... रुपया उड़ाना क्या मुश्किल है ? मुश्किल तो कमाना है। खर्च करने के लिए तो जब चाहें लाख और करोड़ में पानी दे दें। ऐसी स्थिति में जब आप सदैव खाली हाथ घर में घुसें तो वह घर क्या रहा ?...सराय रही। और बीवी-बच्चे भी क्या हुए ?...मिट्टी के खिलौने !

हां, निस्संदेह मिट्टी के खिलौने। पर उस मिट्टी के जो बेजान नहीं होती। कभी न कभी बोल ही पड़ती है। यहाँ तक कि एक सीमा पर तो ऐसी कि भगवान बचाए। वे बोल क्या विष के बुझे हुए चोखे तीर होते हैं जो मुँह से निकलते ही कलेजे के पार हो जाते हैं। उनकी मार से आप तिलमिला जाएंगे। अगर आपकी जिल्द मोटी है, तो ठीक है। दुनिया तमाशा देखे। नहीं, तो चारा क्या ? आख़िर इसमें दोष किसका ?...सरासर आपका। इसलिए कि आप ही तो वह "अधिदेव" हैं जिनकी महती कृपा से "मूक वाचाल" हो सकते हैं, और "पंगु गिरिवरों की लांघ सकते हैं !" बतलाइ न, जब आपने अपनी उतार कर रखदी तो दूसरा ही उसे क्यूं ओढ़े रहे ?...और ओढ़े भी तो कब तक ?

समझ लीजिए, अब शायद वह-जमाना नहीं कि केवल पुरुष होने के नाते आपको मनमानी करने का कोई विरोधाधिकार प्राप्त हो। आप-कहेंगे मनु, वशिष्ठ और याज्ञवल्क्य ..अजी छोड़िए। इन पुराने क़िस्सों को अब कौन सुनता है ? जी। अब वे दिन हवा हो गए जब "वृद्ध, रोग-वश, जड़, धन-हीना" होने पर भी आप किसी के तन मन और जीवन होते। अब तो आपको सतर्कता से यह सिद्ध करना पड़ेगा कि आप यह सब-कुछ नहीं है, और साथ ही न तो "अंधे" हैं और न "बहरे"। आपको सब-कुछ दिखाई देता है और सब कुछ सुनाई पड़ता है। हां, इसी में घर की इज्ज़त है, सुख है और शांति है। इसलिये कि तमाचा शायद एक हाथ से लग सके, पर ताली दोनों ही हाथों से बजती है !

शाम हुई। आप बाहर काम से लौटे। न बच्चों में बैठे, न घर में हँसे-बोले। बल्कि अपने साथ यार-दोस्तों का एक हंगामा लिए चले आए।...ताश उड़ने लगे अथवा शतरंज या चौपड़ की बाज़ी जम गई। लीजिए रात भर का धंधा हो गया। चाय का समय है। अन्दर से आवाज़ लग रही है। पर, आपको इतना अवकाश कहाँ कि दो मिनिट के लिए वहां हो आएँ। और हां, जब सब लोग बैठे हों तो अकेले खाना-पीना भी तो असभ्यता है। इसलिए चाय सबके लिये ही आनी चाहिये...और वहीं बाहर! चलिए हुक्म की तामील हो गई। लेकिन इस खेल का अन्त?...अरे, राम का नाम लीजिए! धीरे-धीरे बारह बज गए। रात भीग चली, पर आपकी समाधि न टूटी। न टूटी। वही "शह" और "मात"! पत्नी बुलाते-बुलाते थक गई। खाना रखे रखे ठंडा हो गया। किसी और को भी खाना या सोना है यह शायद आपकी कल्पना से परे है!

माना आप शराब नहीं पीते। अच्छा हुआ। सड़कों पर खड़े होकर निर्लज्जता से नाचने या किसी गंदी नाली में औंधा मुँह किए पड़े होने से बच गए। गाँजा, सुलफ़ा या चरस में दम नहीं लगाते। भला हुआ घर-घर आग माँगने या कपड़े जलाने से बाज़ आए। भाँग नहीं पीते। खैर हुई। पेट के साथ अन्याय करने या पड़े-पड़े जमीन-आसमान के कुलाबे मिलाने से दूर रहे। पर इससे यह कैसे मान लिया जाय कि आपने अपने जीवन में और कोई बला मोल नहीं ले रखी?

आप तीतर-बाज़, बटेर-बाज़, कबूतर-बाज़ मुर्ग़-बाज़, पतंग-बाज़ और जुए-बाज कुछ न सही। पर, यदि आप केवल 'लेख-बाज़-या 'कविता-बाज़' हैं तो काफ़ी है। वह भी क्या कोई ऐसा ख़ब्त है जो किसी से घटकर हो? कवि जी को देखिए। काशी तो शंकर के त्रिशूल पर टिकी भी है, पर इनकी कविता का ओर-छोर पाना कठिन है! इनकी दुनिया ही निराली है। न कहीं उठना, न बैठना। न किसी से बोलना न चालना। जब देखिए तब कोई न कोई किताब या नोट-बुक हाथ में लगी है। जीवन में कविता और उनके बीच में किसी दूसरी चीज़ का मानो कोई अस्तित्व नहीं। आधी रात है। चारों ओर चाँदनी छिटकी है।

पूर्णिमा का चंद्रमा खिल-खिलाकर हँस रहा है। प्रेयसि सन्निकट है। किन्तु, निपट संयोग में भी चिर-वियोग की कल्पना से व्यथित होकर गुनगुनाते हैं :—

प्राण, तुम गईं कहाँ ?
आज चाँदनी खिली,
चाँद मुसकुरा रहा।
शून्य में छिपा कोई,
मिलन-गीत गा रहा।
मैं यहाँ, तुम वहाँ !
प्राण, तुम गईं कहाँ ?

क्या जाने "प्राण" कहाँ गईं ! आखें होतीं तो शायद दिखलाई देता !!!

—:—

एटा,
२७ जनवरी, ५५।

: २ :

चोरी

हिंसा, झूठ और व्यभिचार की तरह चोरी भी अधर्म का अंग कही गई है। किंतु, किसी देश और किसी काल में उसके सर्वथा अभाव की कल्पना करना सरासर ग़लत है। माना वह मनुष्य के स्वभाव का अंग नहीं, पर एक हलकी-सी दुर्बलता या बहक के रूप में भी उसे कौन अस्वीकार कर सकता है? कारण कुछ भी हो पर सृष्टि के आदि में भी हमें उसके मूल का पता चलता है। न मानें, दुनिया के धर्म-शास्त्र उठाकर देखलें। हिन्दुओं के पुराण, यहूदी, ईसाई और मुसलमानों के "तौरेत", "इंजील" और "कुरान" सभी तो इसके साक्षी हैं। कौन नहीं जानता, दैत्यराज हयग्रीव ने सीधे-सादे प्रजापति ब्रह्मा को छलकर वेदों का अपहरण किया था और भगवान् विष्णु ने मत्स्यावतार धारण कर उसे मार कर पुनः उनका उद्धार किया था। मानवों के आदि-जनक "आदम" और "ईव" के दयनीय पतन से भी कौन अपिरिचित है जिनका दिव्योपवन "ईडन" से निष्काशन ही इस हेतु हुआ था कि उन्होंने ज्ञान के निषिद्ध फल की चोरी की थी!

अस्तु, अनजाने किंवा परोक्ष में किसी की संपत्ति का अपहरण चोरी कहलाता है। भू, धन, धान्य, पशु और जन आदि कुछ भी क्यों न हो, यदि वह दूसरे का है तो उसे स्वामी की आज्ञा के बिना लेना वा उपयोग करना चोरी ही है। यह दूसरी बात है कि

हम अपने मतलब के लिए उस समय अपने और पराए की बात भुलादें और "वसुधैव कुटुम्बकम्" का बाना धारण कर कुछ और ही रूप दिखलाएं। पर, इससे क्या? कारण चोरी प्रत्येक समाज में अत्यंत निंदनीय समझी जाती है। धार्मिक दृष्टि से उसके लिए प्रायश्चित का विधान है तो नीति की दृष्टि से दंड का। आप प्रायश्चित न करें कोई बात नहीं पर राज-दंड से छुटकारा कहाँ? मनु के अनुसार तो "श्याम-वर्ण और रक्त-नेत्र दंड पाप-विनाशार्थ सर्वत्र विचरता रहता है।...जब सब सो जाते हैं तब भी वह जागता है।" हां, कलि में सो गया हो तो कुछ कह भी नहीं सकते। इसलिए कि जागने के समान सोना भी जीवन की एक परमावश्यकता है। सभी सोते हैं। यहां तक कि सृष्टि का विधाता भी, कहते हैं, एक दिन के लिए सोता है!

हां तो, चोरी के लिए राज्य की ओर से दंड का विधान प्राचीन-काल से ही किया जाता रहा है। प्रजा की रक्षा करना राजा का सर्वोपरि कर्तव्य है क्योंकि वस्तुतः इसीलिए वह प्रजा की आय के षष्ठांश का भोक्ता है। "जो राजा प्रजा का रक्षण नहीं करता वह बदले में उसके पाप के षष्ठांश का भागी होता है।" अस्तु, जिन आंतरिक एवं वाह्य उत्पातों से प्रजा को अत्यंत कष्ट होता है वे चोरी, डकैती और हत्या ही हैं। कहने के लिए तो ये तीन चीजें हैं पर सोचने पर बिल्कुल एक। आखिर डकैती क्याहै? ... चोरी का प्रकट और भयावह रूप। और हत्या?...चोरी की पराकाष्ठा। इसलिए कि जिस आततायी ने किसी के प्राण ले लिए उसने फिर उसके पास छोड़ा ही क्या? अतः प्रजा के रक्षार्थ प्रत्येक राजा चोरों का सजगता से निग्रह करता है। वह उनका पता लगाता है, पकड़ता और यथोचित दंड देता है। साधारण चोरी के लिए क्षति-पूर्ति, बड़ी चोरी के लिए कारावास तथा भयंकर चोरी के लिए अंग-भंग आदिक दंड आगे दिए जाते थे। आज भी पुलिस वही करती है, पर कुछ समझदारी के साथ। सभ्यता का युग है न? इसलिए हर कोशिश इस बात की जाती है कि चोरी और डकैती बढ़ने न पाएं और यदि इसके इलाज की कोई सूरत न भी हो तो कम से कम काग़ज पर उनकी संख्या एक निश्चित मर्यादा

के अन्दर अवश्य रहे। हां, काग़ज़ का ज़माना है। "अबदुल्ला अकबर की तलवार से इतना नहीं डरता जितना फैज़ी की क़लम से !"

पर छोड़िए इस क़िस्से को। आधुनिक युग में चोरी कोई भारी अपराध नहीं। चौंकिए नहीं। इसका तात्पर्य उस चोरी से नहीं जिसके लिए आप अँधेरे की प्रतीक्षा करें, रात भर जगकर इधर से उधर धक्के खाएं, दीवारों और छतों पर चढ़ने की ज़हमत मोल लें अथवा नक़ब लगाने की परेशानी उठाएं। जी नहीं। उस चोरी में तो ख़तरा ही ख़तरा है। पकड़े गए तो लाख की इज्ज़त ख़ाक में मिली समझिए। इसलिए कि सौ दिन चोर की होती है तो एक दिन शाह की भी। आख़िर चोरी के लिए आप विलायत से तो आए नहीं। घर के न हुए, पड़ौस के होंगे, पड़ौस के न हुए, मुहल्ले के होंगे, मुहल्ले के न हुए, गांव के होंगे-बस !

अतएव चोरी ही करना है तो दिन दहाड़े की कीजिए। वह लाभकर भी है और निरापद भी। हां, कम से कम उसमें आपको कोई चोर तो न कह सकेगा और न कोई अपराधी समझकर जेलखाने की हवा खिलाने ही ले जाएगा। ज़माने ने इतने मज़ेदार रोज़गार पैदा कर दिए हैं कि आपको हाथ-पैर हिलाने की जरूरत नहीं। एड़ी और चोटी का पसीना तो वस्तुतः मूर्ख बहाते हैं और उनकी संसार में कमी नहीं। पर कहिए यदि आप फूलों में तुल सकते हैं तो कांटों में उलझने की ज़रूरत ? सुना नहीं - "बेबकूफ कमाते हैं, और अक्लमंद उड़ाते हैं !"

अस्तु, समझदारी की बात यह है कि यदि आप अनायास धर्मार्थ और काम तीनों की सिद्धि चाहते हैं तो "चारवाहे" बनिए ! परम्परा पुरानी है कुछ नई नहीं। भगवान् रामचन्द्र ने रीछ और बानरों को चराया तो सोने की लंका जीती, कृष्ण ने गउओं को चराया तो गोपियों का हृदय हस्तगत किया और महात्मा ईसा ने भेड़ों को चराया तो अपने लिए स्वर्ग में एक अटल साम्राज्य की स्थापना की। संसार आज भी उनके गीत गाता है। फिर आप ही इस सीधे सच्चे मार्ग का परित्याग कर दुनिया में क्यों भटकते हैं ? "महाजनो येन गतः स पंथा।" हां, जब 'झक"ही मारना है तो झख मारने से क्या फायदा ? अतः दुनिया में जीना है, और शान के साथ तो आप भी चुपके से "चरवाहा" यानी कि लीडर, नेता,

प्रधान या मुखिया ऐसा कुछ बन जाइए। आलस्य करने अथवा संकल्प-विकल्प में पड़ने की जरूरत नहीं। क्षेत्र कुछ भी हो—राजनीति, धर्म, समाज वा जाति—आप घाटे में न रहेंगे। सच तो यह है कि यही एक धंधा ऐसा है जिसमें "माया" और "राम" दोनों की यथेष्ट प्राप्ति संभव है। और तो सब मूड़ मारना है!

हां, कुछ पल्ले है और खासी दुनियादारी भी तो दवा-गोली की दूकान खोलकर बैठ जाइए। सनदें हों, अच्छा है। न हों, कोई बात नहीं। पूछने वाला क्या बेवकूफ है? वह नहीं जानता कि पाकिस्तान में क्या हुआ? हां तो कितनी सेवा का काम है यह! आप ही हैं जिनके कंधों पर समाज के स्वास्थ्य की रक्षा का उत्तरदायित्व है। वक्त पर दूकान खोलिए और वक्त पर बंद कर घर जाइए। बेवक्त कोई आएगा तो बेवक्त की फ़ीस देगा! रही दवा? सो वह देदी जाएगी.... लिखने या बताने से क्या? रोगी दवाओं के नाम थोड़ा ही जानता है, और अगर जानता भी है तो दूसरी जगह जाने से फ़ायदा? माना कि आप कुछ घाटे में रहते पर इसकी चिन्ता आपको इतनी नहीं जितनी कि रोगी को, जिसे इलाज के साथ-साथ अच्छी दवा मिलना भी बेहद जरूरी है!

जाने दीजिए। अगर कुछ अक्ल है तो न्याय का पेशा कीजिए। क्या जरूरत है आपको सत्यासत्य के वास्तविक अन्वेषण की? यह काम तो न्यायाधीश का है। आप उसकी कहिए जिसने आपको खरीदकर न्यायालय में ले जाकर खड़ा कर दिया। और वह भी बहुत कुछ इस तरह कि क्रेता और विक्रेता के प्रगाढ़ सम्बन्ध की परम्परा जीवन में अटूट बनी रहे। देखिए कैसी लक्ष्मी बरसती है!

और हां, धन के साथ ही यदि कुछ यशःप्राप्ति भी इष्ट है तो लेखक बनिए। कितना सस्ता राग है। सौ-पचास किताबें ढंग की पास होनी चाहिए। यदि लेटिन, फ्रेंच, ग्रीक वा जर्मनी आदि किसी समृद्ध विदेशी भाषा का अभ्यास है तो कहना क्या! उसके किसी खासे लेखक को चुपके-से पकड़ लीजिए और निश्चिन्त होकर अपनी भाषा में ढालिए। देखें कौन भकुआ रोकता है। अव्वल तो आप वहां तक पहुँच लिए जहां रवि अर्थात् प्रकाश की गति नहीं और अगर

बदक़िस्मती से पर्दा फ़ाश हो ही गया तो घबराने की क्या ज़रूरत ? साहित्य की चोरी तो चोरी नहीं समझी जाती। ख़ैर, यह भी न हो सके तो कुछ ऐसा लिखिए जो सहसा किसी की समझ में न आए ; यानी कि समझने के लिए यदि उसमें कुछ न भी हो तो कोई हर्ज नहीं। इसलिए कि "कवयः किं न जल्पंति" के नाते आपको इतनी छूट तो है ही। और फिर देखिए कि "मौलिक" "अभूत-पूर्व" और "असाधारण" आदिक उपाधियों से भूषित होने में आपको कितनी देर लगती है !

—:—

एटा,
८—४—५५।

: ३ :

चाय का प्याला

"सूरज और चाँद बदले या न बदले" पर ज़माना ज़रूर बदल गया। और, ज़माने के साथ "बदल गया है इंसान"! आप रोएँ या चिल्लाएँ, पर इसका कोई चारा नहीं। परिवर्तन सृष्टि का अटल नियम है। एक चीज़ आती है, कुछ दिनों रहती है और फिर दूसरी को जगह देकर स्वयं विदा हो जाती है। कल तक क्या था? यही कि कोई आपके घर आया और आप तत्काल उसके लिए हुक्क़ा लेकर दौड़े, पान-तम्बाकू मँगवाया और घर में खाना तैयार करने के लिए कह दिया। पर आज आपको यह सब उपाधि नहीं करनी पड़ती। कारण - हुक्का देहाती या दक़ियानूसी चीज़ हो गई; पान और तम्बाकू दाँतों को खराब करने लगे; खाना तैयार करना दुस्साध्य हो गया। ऐसी स्थिति में तब एक ही वस्तु शेष रह जाती है जिसे आप इन सारी चीज़ों के अभाव में किसी आए-गए के आगे निस्संकोच रख सकते हैं, और वह है— चाय का प्याला!

जी हां, निस्संदेह चाय का प्याला। इसमें रत्ती भर भी मज़ाक़ या अत्युक्ति नहीं। न मानें तो अपनी आँखों से देखलें। ईश्वर झूँठ न बुलाए, सुबह, तीसरे पहर और शाम - दिन में दो-तीन बार तो चाय शायद आपके ही यहाँ बन जाती हो! और, यदि भाग्य से, किसी आगंतुक की कृपा हो गई तो उस दिन चौथी बार भी! ऐसी दशा में किसी "टी-स्टाल", "रेस्टोरां" या "होटल" की बात तो कहना क्या? वहां तो आप किसी "एमर्जेंसी-वार्ड" की तरह जिस समय

चाहें दाख़िल हो सकते हैं और थोड़े-से पैसों में अपना मंतव्य सिद्ध कर सकते हैं। इतने पर भी यदि आप चाय पर टिप्पणी करें तो ज़बरदस्ती की बात है। सच तो यह है कि प्रचीन अथवा अर्वाचीन किसी भी ज्ञात पेय से आप इसे शायद घटकर न पाएँगे। कहने का मतलब यह है कि आज के युग में चाय से कम ख़र्च और बालानशीं चीज़ दूसरी होना मुश्किल है। आप कहेंगे दूध ? जी, क्या ख़ूब याद दिलाई ! निवेदन यह है कि उसे कल्प-वृक्ष, काम-धेनु, चिंतामणि और पारस के समान एक अलभ्य वस्तु समझकर जितना जल्द भुला दिया जाय अच्छा है। रहीं और चीज़ें - अर्थात सुरों का सोम और असुरों की सुरा—हां, चाहें तो इनके साथ मर्त्यों का धूम्र पान भी शामिल करलें—तो कहिए क्या इन चीज़ों से आपकी रंग-रँगीली, मधुर रसीली, गर्मागरम चाय घटकर है ? कभी नहीं। आदमी का भूत बनाने और मुँह में दुर्गन्ध पैदा करने वाले उक्त पदार्थों से यह लाख दरजे बढ़कर है। सच मानिए, अपने को कृतार्थ करने अथवा किसी भले आदमी से निवृत होने के लिए चाय से ज्यादा सस्ता और बढ़िया नुस्ख़ा शायद ही कोई दूसरा हो। छोटे-मोटे कस्बे से लेकर दिल्ली, कलकत्ता और बम्बई जैसे विशाल नगरों तक कहीं चले जाइए, एक प्याला चाय की क़ीमत है— दो आने, सिर्फ़ दो आने !

चाय के लोक-प्रिय होने का एक कारण शायद और भी है। और वह है उसका अर्थ। चौंकिएगा नहीं। चाय का अर्थ है "चाह" ! अर्थात इच्छा, वांछा, स्पृहा और मनोरथ ! विश्वास न हो तो अपने आप परीक्षा कर देख लीजिए। हाथ कंगन को आरसी क्या ? ज़रा कान लगाकर सुनिए, सामने वह "टी-वेंडर" क्या चिल्लाता जा रहा है "गरम·····चाह !" ·····"चाह·····गरम !" जी, सुना आपने ? अब भी क्या किसी कोशकार या वैयाकरण के पास जाने की आवश्यकता रह गई ? ···क्या कीजिएगा उनके पास जाकर ? इन किताबों के कीड़ों को अगर दुनिया का कुछ पता होता तो भले दिन थे ! वे कुछ भी कहते रहें परंतु यह निश्चित है कि वास्तविक जगत में चाय और "चाह" न जाने कबके पर्याय-वाची बन चुके। आप ही कहिए - क्या आपको कभी चाय की चाहत नहीं होती ? जाड़े...गर्मी...बरसात ? ···"नहीं !" जी, यह तो असंभव है। हां, आप दुनिया से निराले

हों तो दूसरी बात है। अन्यथा सभ्यता के इस युग में राज-महल से लेकर साधारण कुटीर तक सर्वत्र इस रंगिणी की गति है। कहीं चले जाइए। महामहिम राष्ट्र-पति के भवन से लेकर किसी अकिंचन अनागारिक के अस्थायी निवास तक आपको चाय तैयार होती हुई दिखलाई देगी। अन्तर केवल इतना है कि वहां वह सोफ़ा-सेटों के बीच में सजी हुई सुन्दर मेजों पर मक्खन, डबल-रोटी, बिस्कुट, फल और नाना-प्रकार के मेवों के साथ क़रीने से रखी हुई दिखलाई देगी और यहाँ फटी पुरानी दरी अथवा टूटी हुई चटाई पर कंच के गिलास या प्याले में लापरवाही के साथ रखी हुई। वहां इसके पीने वाले सुन्दर वस्त्राभूषणों से अलंकृत संभ्रान्त व्यक्ति होंगे, और यहां दीन, जर्जर एवं नग्न किंवा अर्द्ध-नग्न। यह अवश्य है कि पीने वालों के लिए चाय दोनों ही जगह शरीर में एक-सी स्फूर्ति और हृदय में एक सी उमंग पैदा करती है!

चाय के विभिन्न नाम भी कितने प्यारे हैं! एक बार सुन लेने पर आप उन्हें कभी भूल नहीं सकते। इसका मतलब यह नहीं है कि साथ ही उसके कुछ "ट्वाके", "बारूद" और "ब्रुकबॉंड" जैसे रद्दी और कर्ण-कटु नाम हैं ही नहीं - यों तो फिर भगवान् भोलेनाथ को भी लोग "भीम", "विरूपाक्ष" और "वामदेव" आदि कह देते हैं—पर, आप ही कहिए कि क्या आप याचना, मनुहार और प्रणय-निवेदन आदि के मूर्त्त-रूप इन मधुर और मर्म-स्पर्शी शब्दों को कभी भूल सकते हैं? कौन-से? ...सुनिए- 'संगलों' (वस्तुतः सुंगलो नामक चीनी चाय), "पीको"··· और सबसे बढ़कर—"लि. प. ट. न"।

चाय उत्तम पेय ही नहीं, एक सुलभ जीविका भी है। यदि आप बेकार हैं, नौकरी तलाश करते करते परेशान हो गए हैं, घर पड़े-पड़े गृहस्थी का पालन करना कठिन हो गया है, तो चिंतित और निराश होने की कोई आवश्यकता नहीं है। मज़े से चाय की दूकान खोलकर बैठ जाइए। दो एक मेज़, कुछ कुर्सियां, थोड़े - से फुटकर प्याले और तश्तरियां, एकाध ट्रे - लीजिए, केवल पचास साठ रुपये में आपका "टी-स्टाल" बनकर तैयार हो गया। हर्रा और फिटकरी बराए नाम, और रंग चोखा ही चोखा। इसमें लज्जा और संकोच की कोई बात

नहीं। आप ही क्या, इस चाय की बदौलत तो न जाने कितने "केवेंडर" "शिंदे", "मोदी" और "मंघाराम" जीते हैं!

यही क्यों? चाय जीवन की न जाने कितनी समस्याओं का सुन्दर निदान है। कितनी ही साहित्यिक गुत्थियां एवं राजनीतिक पेचीदगियां इसके सहारे आसानी से हल हो जाती हैं, कितने ही पापी, चोर, हत्यारे और विप्लवकारी इसके बहाने अनायास पकड़े जाते हैं, कितने ही मन-चले, अपरिचित युवक युवतियों का मधु-मिलन इसके मौन-मुखर प्यालों के द्वारा अकस्मात् हो जाता है, और सबसे बढ़कर हो जाता है इसकी सहायता से न जाने कितनी हानिकारक, सामाजिक रूढ़ियों एवं रीतियों का उत्पाटन भी।

चाय वस्तुतः प्रेम और सद्भाव की प्रतीक है। आप देश तथा समाज के उत्थान के लिए व्यग्र हैं। दिन-रात व्याख्यान देते हैं, पुस्तकें लिखते हैं, पत्र निकालते हैं तथा अपने धुंआँधाड़ वक्तव्यों से राज्य एवं केंद्रीय परिषदों की जड़ें हिलाने की कोशिश करते हैं। पर, लाभ क्या? कुछ नहीं। लेकिन इस ना-चीज़ चाय के प्याले को देखिए। इसे साहब पीते हैं, बाबूजी पीते हैं, सेठ पीते हैं, श्रमजीवी पीते हैं, पंडित जी पीते हैं, मुल्ला जी पीते हैं, तुंगल का ताऊ पीता है और घसीटा का चाचा भी पीता है। स्थान वही, मेज़ वही, प्याले वही और पिलाने वाला भी वही! क्या किसी सुधारक, नेता और प्रवक्ता ने मानवता के आदर्श-पथ को प्रशस्त करने में ऐसा अपूर्व योग दिया होगा जैसा - कि इस चाय के केवल एक प्याले ने !!!

—o—

एटा
३१—१—५५।

: ४ :

बदमाश

बदमाश ऐसा शब्द नहीं जिसका अर्थ आप न जानते हों, किंतु फिर भी यदि जानने की इच्छा हो तो आपको किसी कोशकार अथवा वैयाकरण के पास जाने की आवश्यकता नहीं। चलते-फिरते यों ही किसी से कह देखें और फिर घंटों सुना करें कि बदमाश किसे कहते हैं। सुनाने वाले के लिए भी यह आवश्यक नहीं कि वह अकेले आपको ही सुनाता रहे। यदि अवसर हो, और सौभाग्य या दुर्भाग्य से शरीर में आप हों उससे कम उन्नीस, कोई मित्र या परिचित भी सहायता करने के लिए पास में न हो, तो कोई आश्चर्य नहीं कि वह आपके साथ आपके पिता और पितामह आदि को जिज्ञासुओं की श्रेणी में शामिल करले और इस सुन्दरता से आपका समाधान करे कि आप जीवन भर भूल न सकें!

जी। किसी को बदमाश कह देना कोई मज़ाक नहीं। यों प्यार की बात दूसरी है। उसमें तो आप किसी को उल्लू, पाजी, गधा और सूअर आदि जो चाहे कहें। किंतु जहाँ आपका कथन साभिप्राय हो वहां किसी को अपने बारे में कोई भद्दी या अनुचित बात सुनना क्योंकर सह्य होगा? कोई मूर्खता में शेख-चिल्ली का बाप और धूर्त्तता में शैतान का बच्चा सही, लेकिन आपसे मतलब? आपको क्या हक है कि आप उसे बुद्धू, गोबर गणेश, धूर्त्ताधिराज, प्रपंच बुद्धि अथवा कौटिल्यादि कहें? आप दो आँखों वाले सही, लेकिन संयोग से यदि आपका सामना

किसी ऐसे आदमी से हो जाय जो ईश्वर की इस विभूति से किंचित अथवा सर्वथा वंचित हो, तो क्या आप उसे मुँह-मुँह अंधा या काना कह सकेंगे ? यदि नहीं तो फिर बदमाश को बदमाश कहना तो बड़ी टेढ़ी खीर है।

बात यह है कि बदमाश इस एक शब्द में मन, वाणी और शरीर के प्रायः सारे कुसंस्कार सन्निविष्ट हो जाते हैं। झूंठ बोलना, चोरी करना, जुआ खेलना, शराब पीना, वेश्या के यहां जाना, मार-धाड़, लूट-पाट और हत्या आदि कोई ऐसा दुष्कर्म नहीं जो किसी बदमाश से बच रहता हो। आप सेठ हैं, रुपए वाले हैं तो आपकी संपत्ति में इनका सहज साझा है। धर्मा दे की तरह इनके हिस्से का भी कुछ न कुछ चुपचाप बिना कान हिलाये निकालते रहिये तब तो ठीक वरना खैर नहीं। मिल में हड़ताल करादी। लीजिए काम ही ठप हो गया। कहीं निकले-निकलाये तो फब्तियां कसदीं अथवा दो चार ढेले ऊपर फेंक दिए और बीच बाजार में इज्जत खराब करदी। दाव लगा तो घर का कोई बाल-बच्चा गायब कर दिया। आप किसी बड़े पद पर हैं तो सिफारिशें लेकर चले आए। किसी को नौकरी दिलानी है तो किसी को तरक्की। किसी का तबादला कराना है तो किसी को बरखास्त। किसी को टेंडर दिलाना है तो किसी को परमिट। कोई सरेआम कत्ल करके भी आ रहा है तो उनकी नजरों में बेक़सूर है। उसकी ज़मानत हो जानी चाहिए। अच्छा तो यह हो कि वह बेदाग छूट जाय और उसकी जगह दो चार बेगुनाह जेलखाने में ठूस दिए जांय। बस उनके मनोनुकूल सब करते जाइए तो आप भले हैं, ईमानदार हैं, और न्याय-प्रिय हैं, और नहीं करते तो महानिकम्मे, रिश्वत-खोर, घमंडी और पक्षपाती। हां यदि आप शासन के महत्वपूर्ण अङ्ग हैं अर्थात् सचिव, मंत्री, प्रधान-मंत्री अथवा राज्य-पाल आदि, तो वे आपके अनन्य मित्र और अभिन्न सहचर हैं। आपको उनकी चिन्ता हो या न हो किन्तु उन्हें जब तक दिन में दो-चार बार आपके दर्शन न हो जांय, चैन नहीं। और कुछ नहीं तो घर की ही देखभाल कर रहे हैं। न कुछ काम के लिए हज़ार बार बाजार दौड़ रहे हैं। कोई बीमार-हारी है तो रात-रात भर जगकर टहल कर रहे हैं। और चुनाव के जमाने में तो उनकी दौड़-धूप का क्या कहना ! मालूम होता है कि बेकौड़ी के गुलाम हैं। उनका शरीर-सुख, उनका स्वाभिमान

और उनकी इज्ज़त सब कुछ आपके चरणों में न्योछावर है किस लिए? इसलिए कि आप शासन के कार्य-संचालन में उनके संकेतों का महत्व स्वीकार करें और उनके सत्परामर्शों से यथासंभव लाभ उठावें। इसमें कोई त्रुटि नहीं होनी चाहिए। ज़रा कोई बात उनके मनके विरुद्ध हुई कि लगे दुनिया भर की कीचड़ और मिट्टी आपके सर पर डालने!

अस्तु, यही कारण है कि बदमाश या नंगे से दुनिया में सब डरते हैं। ग़रीब-अमीर छोटे-बड़े सभी उससे काबा काटते और हाहा खाते हैं। संभवतः परमेश्वर भी इस भय से शून्य नहीं है। निदान लोक में बदमाश की प्रतिष्ठा परमेश्वर के तुल्य या उससे किंचित बढ़कर ही है। तुलसीदास पर क्या था? मांग के खाना और मसीत का सोना लेने के लिए एक न देने के लिये दो। किंतु बदमाशों से वह भी चक्कर खाते थे। और इसी लिए उन्होंने मानस के आदि में उनकी बड़े विनम्र भाव से वंदना की है —

बहुरि बंदिं खल-गण सतिभाये - जे बिनु काज दाहिने बांये।
पर हित-हानि लाभ जिन केरे - उजरे हर्ष, विषाद बसेरे॥
हरि-हर-यश राकेश राहु से - पर अकाज भट सहस-बाहु से।
जे पर-दोष लखहिं सहसाखी - परहित-घृत जिनके मन माखी॥
तेज कृसानु रोष महिषेशा - अघ अवगुण धन धनिक-धनेशा॥

आदि। किन्तु आश्चर्य है कि एक ओर तो उन्होंने बदमाशों की ऐसी खरी और विशद व्याख्या की है और दूसरी ओर अपने को उन्ही की श्रेणी में सबसे आगे रखा है। उनका दावा है —

तऊ न मेरे अघ अवगुण गनि हैं —
जो यमराज काज सब परिहरि, यहै ख्याल उर धरिहैं॥

और भी —

कहि है कौन कलुष मेरे कृत कर्म वचन अरु मन के।
हारहिं अमित शेष शारद श्रुति गिनत एक भर छिनके॥

और सूरदास ने तो अपने को पल्ले दरजे का बिगाड़ा बतलाते हुए पतितों का राजा ही घोषित किया है—

प्रभु हौं सब पतितन को राजा।
निंदा पर-मुख पूरि रह्यो जग यह निसान नित बाजा॥

इन इकबाली गुनहगारों की संख्या कम नहीं है। कबीर की सुनिये—

मैं अपराधी जनम का नख-शिख भरा विकार।
तुम दाता दुख-भंजना, मेरी करौ सम्हार॥

और दादू भी मानो उन्हीं के स्वर में स्वर मिलाकर कहते हैं—

तिल-तिल का अपराधी तेरा, रती-रती का चोर।
पल-पल का मैं गुनही तेरा, बकसो औगुन मोर॥

अस्तु, इन झूट-मूंट अपने आप बदमाश बनने वाले महानुभावों को छोड़ दें तब भी हमें साहित्यकारों में बदमाशों का अभाव न मिलेगा। कुछ लोगों की सम्मति में तो साहित्यकता उच्छृंखलता और स्वेच्छाचारिता का ही प्रसाद अधिक होती है और साधना तथा तपस्चर्या का कम। उर्दू लेखकों का फक्कड़पन और आवारगी तो प्रसिद्ध है। वहां तो बिना आशिक़ी के कविता के साम्राज्य में पैर रखना अनधिकार चेष्टा है। और आशिक़ी भी ऐसी वैसी नहीं बल्कि एक जुनून और दीवानापन जिसमें मर्यादा, संयम और शील का नाम न हो। साहित्य के क्षेत्र में जहां शृंगार की रस-राजिता अक्षुण्ण है, इसके सिवा और होगा क्या? वहां तो कवि वही हो सकता है जिसका हृदय काम के कुसुम-बाणों से बिंध चुका हो। पंत जी की धारणा है—

वियोगी होगा पहला कवि,
आह से उपजा होगा गान,
निकल कर प्राणों से चुपचाप,
बही होगी कविता अनजान!

कविता कैसे भी बही हो, किन्तु यह निर्विवाद है कि संसार का सर्व प्रथम लोक-गायक वाल्मीकि लुटेरा और हत्यारा था। साहित्य-क्षेत्र में अवतीर्ण होकर उसने अपनी लोकोत्तर प्रतिभा का परिचय दिया और रामायण के रूप में एक ऐसी अमूल्य और समुज्ज्वल निधि प्रदान की जो आर्य-जाति की स्थायी संपत्ति है और जिसके आधार पर उसकी गणना विश्व के अमर कवियों में की जाती है।

त्रेता की बात है। पुरानी। जाने दीजिये। नई लीजिये। हिन्दी के अप्रतिम शब्द-शिल्पी नंददास शोहदे, और अष्ट-छाप के प्रतिष्ठित कवि छीत-स्वामी विख्यात गुंडे थे। ब्रज-भाषा-रस-रसिकों के कंठ-हार रसखान प्रेमांध तथा घनानंद वेश्यागामी थे। बायरन सा विलासी, आस्कार वाइल्ड सा दुश्चरित्र, ग़ालिब सा मद्यपी, टालस्टाय सा जुआरी और गोर्की सा आवारा भी कहां मिलेगा? लेकिन इसमें संदेह नहीं कि ये सब अपने अपने क्षेत्र के अद्वितीय साहित्यिक महारथी थे। उनके अमिट व्यक्तित्व अपने अपने देश की साहित्यक गरिमा के उज्ज्वल प्रतीक हैं तथा उनकी दुर्बलताएँ अथवा कमियाँ चंद्रमा में विद्यमान कलंक की भाँति उनकी मोहकता को कम नहीं करतीं।

भला हो इब्सन का जिसने अभिजात अथवा भले आदमियों की तरह लुच्चे और गुंडों को भी साहित्य का विषय बनने का अधिकार दे दिया। उसकी प्रेरणा अथवा समय के फेर ने साहित्य में युगांतर उपस्थित किया जिसके फलस्वरूप संसार को "चरित्र-हीन" "दुश्चरित्र", "अभिशप्त", "पागल", तथा "गुंडा" जैसी कला-कृतियाँ प्राप्त हुई। और आवारा?...इस शब्द की लोक-प्रियता का तो क्या कहना। ऐसा प्रतीत होता है मानों आज की दुनियां में आवारों की संख्या के साथ साथ इस शब्द की व्यापकता भी बढ़ती चली जा रही हो। फलतः इस नाम की फिल्म, इस नाम का कपड़ा और इस नाम का लेखक भी आपको बिना किसी कठिनाई के मिल जायेगा। आप आश्चर्य न करें कि "पायल", "अंगड़ाई", "रोते नयना", "धड़कन" और "जाड़े की रात" जैसी सुन्दर रचनाएं किसी "आवारे" की देन हैं!

साहित्य ही क्या, जीवन के किसी भी क्षेत्र में हम इन तथाकथित दुर्वृत्त वा अवांछित व्यक्तियों को पिछड़ा हुआ नहीं पाते। क्या व्यापार, क्या सेना, क्या शासन और क्या राजनीति सर्वत्र उनकी गति है और सभी जगह उन्होंने अपनी उत्कृष्टता का परिचय दिया है। सच तो यह है कि इन वृथा नामधारी परम-हंस, महामना और राज-ऋषियों से वे अनेक गुणों में श्रेष्ठ और कार्य-कुशल होते हैं। क्यों? इसलिए कि उनकी लोकोत्तर प्रतिभा, असाधारण कार्य-क्षमता और

अतिरिक्त जीवन-शक्ति इधर उधर भटक कर अपना सही मार्ग तलाश करती है। अन्त में जब वह मार्ग मिल जाता है तो वे द्रुत गति से उस पर अग्रसर होते हैं और संसार चकित होकर देखता है कि वे उन्नति के परमोच्च और नितांत स्पृहणीय शिखर पर विराजमान् हैं। कुटिल चाणक्य, रक्तपिपासु सिकंदर, बर्बर चंगेज़ खाँ, लोलुप महमूद, आततायी तैमूर, महत्वाकांक्षी अलाउद्दीन, नृशंस नादिर शाह, दुस्साहसी सेंगुत्तुवन और शैलेंद्र तथा लुटेरे हाप्किंस और ड्रेक आज संसार के महान् राजनीतिज्ञ, महान् विजेता, महान् सेनापति, महान् राज्य-संस्थापक, तथा महान् समुद्र-यात्री माने जाते हैं। उनकी कुटिलता, उनकी उच्छृंखलता, उनकी मदांधता और उनकी कठोरता कितनी कमनीय और गौरवपूर्ण है, इतिहास इसका साक्षी है!

—:—

एटा
२०—१०—५३।

: ५ :

जी....

"जी"...दो अक्षरों का छोटा, नन्हा-सा शब्द है किन्तु, मनुष्य के लोक और परलोक दोनों के हित की जैसी अद्भुत शक्ति इसमें विद्यमान है क्या किसी दूसरे शब्द में होगी। ओ३म् ईश्वर का वाचक है। वेद, उपनिषद् एवं पुराणों में उसकी महिमा का मूरिशः उल्लेख है। किन्तु, उसमें भी तीन अक्षर हैं—"अ","उ", और"म्"। आप उसका जाप करें; संभव है भगवान् प्रसन्न हों; परन्तु मानवी प्रसन्नता अथवा तुष्टि के लिए ओ३म् का अनवरत पाठ भी निष्प्रयोजन होगा। उलटे सुनने वाला आपको मूर्ख किंवा बुद्धि-भ्रष्ट समझ बैठे तो आश्चर्य नहीं। उधर "जी" में आपके दोनों हाथ लड्डू हैं। मज़ाक नहीं। ज़रा किसी से बोलते-बतलाते एक बार कह देखिए। हां आपकी वाणी में मिठास और होठों पर मुस्कराहट होनी चाहिए। यह नहीं कि लठ मार दिया। और फिर देखिए कि सुनने वाला किस तरह आप पर लट्टू हो जाता है। ऐसा प्रतीत होगा मानों आपने उसके ऊपर जादू कर दिया है। आप स्वामी हों या सेवक, पति हों या पत्नी, ग्राहक हों या दूकानदार, वकील हों या मुवक्किल, गुरु हों या शिष्य, भाई हों या बहन जिस किसी से भी बात करेंगे, अनायास उसका हृदय जीत लेंगे और अपना काम निकाल ले जाएंगे!

यह लोक-साफल्य की बात हुई। अब परलोक की लीजिए। प्रथम तो जब तक "जी" है उसकी चिंता क्या? लोकायतों का मार्ग ग्रहण करें और

मौज की छानें। आखिर इस लोक से परे भी कोई लोक है, यह निर्विवाद तो नहीं। पर खैर, यदि आप पर आस्तिक्य का भूत सवार ही है तो कृपाकर कोशकार की शरण में जाएं। वह बतलादेगा कि "जी" जकार और ईकार के योग बना है। "ज्" का अर्थ है—नारायण और "ई" का अर्थ है—लक्ष्मी! अब कहिये संसार में वह कौन-सा प्राणी है जिसके यहाँ लक्ष्मी सहित विष्णु भगवान की पूजा-प्रतिष्ठा न होती हो! सीता और राम, राधा और श्याम, शक्ति और शिव सब इन्हीं के रूपांतर हैं। सच तो यह है कि संसार किसी न किसी रूप में इन्हीं दोनों का उपासक है। जो लोग भगवान् के एक अथवा अद्वैत रूप के क़ायल हैं वे भी उसके अनुग्रह-स्वरूप सांसारिक सुख और वैभव की कामना करते हैं। सांसारिक सुख और वैभव क्या है?...लक्ष्मी ही तो!

हां, आपको यह चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं कि "जी" की यह निरुक्ति कहां तक व्याकरण-सम्मत है। क्यों कि, प्रथम तो शब्दानुशासन के दिन लद गए, दूसरे व्याकरण ने शब्दों के अर्थ निश्चित करने का ठेका नहीं ले लिया। शब्द ब्रह्म है और व्याकरण शास्त्र। ब्रह्म सदैव शास्त्र की निरूपण शक्ति से परे है। वेदों का "नेति" "नेति" इसका साक्षी है। यों भी "कुशल" "गवेषणा" "निबंध", "मृग" तथा 'साधु' आदिक न जाने कितने ऐसे शब्द हैं जिनका धात्वर्थ ग्रहण करना आज असंगत और उपहास्पद होगा। क्या इस कटु सत्य से व्याकरण की सीमा का बोध नहीं होता?

अस्तु, "जी" एक सम्मान-सूचक शब्द है। शिष्टाचार के नाते वह किसी व्यक्ति के नाम के आगे लगाया जाता है। जैसे—सुरेंद्र जी, महेंद्र जी, गोपाल जी। साथ ही वह क्रिया-विशिष्ट संक्षिप्त प्रति-संबोधन भी है जो किसी बड़े के कथन, प्रश्न या संबोधन के उत्तर में प्रयुक्त होता है। जैसे किसी ने पूछा—"राम, तुम मेरा अभिप्राय समझ गए?" और राम ने उत्तर दिया—"जी, समझ गया।" अथवा किसी ने कमरे से नौकर को पुकारा—"अरे लखना, इधर आओ।" और लखना ने उत्तर दिया—"जी बाबूजी अभी आया।"

कहना न होगा कि सभ्यता के इस युग में प्रत्येक मनुष्य के लिए शिष्टाचार या सौजन्य का पाठ सीखना अत्यंत आवश्यक है। उसके

बिना मनुष्य, मनुष्य न होकर पशु ही होता है। मनुष्य और पशु के पारस्परिक भेदों का प्रमुख आधार वाणी का संस्कार ही है। वह हमारे अंतर की कुंजी है जो हमारे व्यक्तित्व को स्पष्ट रूप में परीक्षा के लिए समाज के आगे रख देती है। वाणी के द्वारा हम अपने कुल, शील और स्वभाव का जैसा ठीक-ठीक परिचय देते हैं, वैसा नाम, रूप या वेश-भूषा से नहीं। कहते हैं न कि बोली में रस है, और बोली में ही विष है। लात का घाव भर जाता है पर बात का नहीं। कोयल काली होती है। कौवा भी काला होता है। किन्तु, मीठे-मीठे शब्दों के कारण कोयल का सर्वत्र आदर होता है और कौवे का सर्वत्र तिरस्कार। न कोयल किसी को कुछ देती है, और न कौवा किसी से कुछ छीनता है। किन्तु, फिर भी कोयल अपने कल कूजन से सबका चित्त हरती है और कोवा सबकी विडंवना का पात्र बनता है। लोग उसके पीछे तालियाँ पीटते हैं, शोर मचाते हैं और उसे उड़ाकर ही दम लेते हैं। अतः मधुर भाषण निश्चय रूप से सर्व-श्रेष्ठ वशीकरण है। और उस वशीकरण का "बीज" है "जी"। जिस प्रकार बिना "बीज" के किसी मंत्र का जाप सफल नहीं होता, उसी प्रकार बिना "जी" "जी हां" अथवा "जी हुजूर" के पारस्परिक संभाषण भी निरर्थक होता है।

हां, "जी" अकेला सूखी रोटी की तरह बार-बार किसी के गले आसानी से नहीं उतरता। क्योंकि इससे वक्ता का दंभ सूचित होता है और सुनने वाला अपनी हेठी समझ कर मन ही मन चिढ़ जाता है। रोटी कितनी ही अच्छी क्यों न हो पर उसे खाने के लिए थोड़ा-सा घी, दाल-साग और चटनी आदि चाहिए ही। आखिर वह ज़माना तो नहीं कि पत्थर के टुकड़े और वृक्ष की शाखाएं लिए नंगे बदन शिकार की खोज में जंगलों में मारे फिर रहे हैं। कोई जानवर हाथ लगा कि उसे कच्चा ही चट कर गए। बहुत किया भून-भान लिया। बीसवीं शताब्दी का मानव सभ्यता के शिखर पर आसीन है। वह धन-धान्य आमोद-प्रमोद और सौष्ठव से परिपूर्ण नागरिक संस्कृति का जन्म-दाता है। वह खान-पान, वेश भूषा और आचार-विचार सबमें शिष्टता, सुन्दरता और सुसंस्कृतता का अभिलाषी है। अतः इस युग में "जी" के साथ यदा-कदा "श्रीमान्" "महोदय" "राजा जी" "बाबू जी"

"सरकार" या "हजूर" आदिक प्रतिष्ठा-सूचक शब्दों का प्रयोग अनुचित वा असामयिक न होगा।

जो हो, सभ्यता के साथ-साथ "जी" का प्रयोग भी निरंतर बढ़ रहा है। पुत्र पिता को पिता जी और माता को माता जी कहता है। कहना भी चाहिए। पर उधर माता-पिता भी पुत्र के प्रति औचित्य का पालन करने में पीछे नहीं रह सकते। कहेंगे "मुन्ने जी", "चुन्ने जी", "बुत्तन जी", "पुत्तन जी", "बब्बन जी", "लल्लन जी" और सबसे बढ़कर "कुंवर जी"। यह चीज़ कुछ संबोधन तक ही सीमित हो सो नहीं। उसकी माया का प्रसार विस्तृत है। बहुधा आप "जी" को कितने ही देशी और गुजराती नामों का अंग बनता देखेंगे। जैसे—"राव जी", "धन जी", "रणछोड़ जी", "कांजी", "हर जी" "राम जी" और "लाल जी"। साधारण बोल-चाल में भी "जी" का प्रयोग शिष्टता के नाते अनिवार्य सा होता जा रहा है। जब बंगाली माशा अपने नाम के साथ बाबू शब्द का मोह नहीं छोड़ सकते तो हिन्दी और महाराष्ट्र-जन भी "जी" का परित्याग कैसे कर सकते हैं। निदान एक कहेगा—"हीरेन बाबू", "धीरेन बाबू", "शीलेन बाबू" और "घोषाल बाबू" तो दूसरा बोलेगा—"दिवाकर जी", "मुधोलकर जी","मावलंकर जी","रमेश जी", "सुरेश जी" और "दिनेश जी"। आश्चर्य तो यह है कि इस "जी" के प्रसाद से कलि में देवता भी वंचित नहीं रखे गए। लीजिए "श्रीनाथ जी", "बांके विहारी जी","रघुनाथ जी","लखन लाल जी","भरत जी", और "चरत जी"!

अस्तु, साधारण व्यवहार में आप "जी" की उपेक्षा भले ही करदें किन्तु नौकरी-चाकरी में उसके बिना गुज़ारा नहीं। अच्छा तो यही है कि आप मनु की बात मानें और इस निकृष्ट वृत्ति से दूर रहें। पर यदि विवश होकर आही फँसे हैं तो विश्वस्त होकर "जी" का आश्रय लें और आनंद से दिन काटें। आप काम नहीं जानते, कोई चिन्ता नहीं, महनत नहीं कर सकते—कोई फ़िकर नहीं, पर "जीहुजूरी" तो कर सकते हैं? साहब आया, हंसकर स्वागत कर लिया; गया, तो कुछ दूर तक साथ चले गये; बीच में मौका मिला तो प्रशंसा के पुल बाँध दिये। कभी घर पर बुलाया तो क्या कहना...सौ काम छोड़कर सर पर पैर रखकर दौड़

गये। बस इतना किया कि बाज़ी मार ली। समझ लीजिये कि अब आपके बराबर कार्य में दक्ष, परिश्रमी और कर्तव्य का विवेक रखने वाला ढूंढे न मिलेगा!

और देखिये, दफ्तर की तरह घर में घुसें तो वहाँ भी इस बात का ध्यान रखें कि गृह-स्वामिनी से बोलते समय शिष्टता की मर्यादा का उल्लंघन न हो। इसलिए कि अब वे दिन दूर गये कि आप किसी को "पैर की जूती" समझें अथवा "ढोल", "गंवार" और "पशु" की श्रेणी में रखकर "ताड़ना का अधिकारी" कह बैठें। जी। यदि असावधानी अथवा प्रभाववश आपके मुँह से श्रीमती जी की शान में कोई बेतुकी बात निकल गई तो ईश्वर बचाये। एक तूफान उठ खड़ा होगा। हां, बोलना-चालना तो खत्म ही समझिये। यह भी हो सकता है कि आपका एक क्षण के लिए भी घर में टिकना मुश्किल हो जाए। नहाने-धोने का वक्त है तो लीजिये चुपचाप पानी रख दिया गया। कपड़े निकल आये। नहाइये। खाने का समय है तो उलटी-सीधी थाली लगकर नौकर या किसी बच्चे के हाथों भेज दी गई। खाइये और रास्ता लीजिये। दफ्तर जाइये, बाजार या पार्क में घूमिये, सिनेमा देखिये अथवा यार-दोस्तों के यहाँ वक्त काटिये। बहर-हाल उनसे कोई मतलब नहीं। आखिर आपने समझा क्या? जरा पुराने ग्रंथों को तो उठाकर देखिये क्या लिखा है?..."यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः।"...अस्तु, भले दिन हैं तो चार पैसे कमाइये और चुपचाप लाकर श्री चरणों में रख दीजिये। बोलिये तो ज़रा संभल कर और शिष्टता के साथ। यह नहीं कि गंवारों की तरह डांकरहे हैं—"जग्गो की जीजी", "सेटू की अम्मा", या "मंगलू की माई"। टुक मधुर संबोधनों के साथ "जी" का उपयोग कीजिये और कहिये— "रानीजी", "देवी जी", "पंडितानी जी", "सेठानी जी", और "ठकुरानी जी"। कुछ पढ़े-लिखे और किंचित् प्रगतिशील हैं तो निस्संकोच नाम लीजिये—"सावित्री जी", "सरला जी", "प्रभा जी", और "कुंता जी"! फिर देखिये कि किस प्रकार आप के ऊपर किसी के प्राण न्योछावर हो जाते हैं!

यह है "जी" की महिमा। लेकिन लोग फिर भी इससे चक्कर खाते हैं। कहते हैं इसका उठना और बैठना, हटना और फटना, छूटना और टूटना सभी खराब होता है। होगा। सुना तो है कि "जी" की लगी बुरी होती है। इसलिए छोड़िये!

——:——

एटा
७—६—५४।

: ६ :

कौवा

"घर कीन्हे घर जात है, घर छोड़े घर जाय।
तुलसी घर-बन बीच रहु, राम प्रेमपुर छाय"॥

तात्पर्य है—घर में अतिशय रमने पर परलोक नष्ट होता है, और निशि-वासर परलोक-चिंता में निमग्न रहने पर इस लोक का सुख। इसलिए गोस्वामी जी का कहना है कि घर और बन इन दोनों के बीच में राम की प्रेमपुरी छाकर लोक-जीवन पूरा करना चाहिए। बात तो पते की है किन्तु इस सत्परामर्श का संसार में यदि किसी प्राणी ने अक्षरशः पालन किया है तो वह कौवा ही है। कलि के माया-मुग्ध संन्यासियों की भांति उसका भी एक पैर जंगल में और दूसरा बस्ती में रहता है। रात बीती नहीं कि "कांव - कांव" करता हुआ वह दिन का संदेश लेकर बस्ती की ओर दौड़ा। और लीजिए, बच्चे उसका स्वागत कर रहे हैं! किसी के हाथ में रोटी का टुकड़ा है तो कोई ताजा मक्खन लिए खड़ा है, कोई बिस्कुट खा रहा है तो कोई क़ोफ़्ते और शामी क़बाब का आनन्द ले रहा है। वह आया और आकर घर की मुँडेल पर बैठ गया। बच्चे प्रसन्न हुए। संभ्रांत अतिथि की भांति न सही तो अन्यथा उसकी पहुनाई आरंभ हुई। रोटी का टुकड़ा ग़ायब। बिस्कुट और शामी क़बाब लापता। दाव लगा तो मक्खन भी लपक-झपक में हाथ आया। आतिथेय घबराये, खीझे और रोते चिल्लाते घर में भगे। कुछ बड़बड़ाये, कुछ मुस्कराये और कुछ मचलते हुऐ मां

की गोद में जा बैठे। माँ ने पुचकारा, चुप किया और फिर खाने - पीने की चीजें पकड़ा दीं। खुश होते आँगन में लौटे तो देखा कौवे का कहीं पता नहीं !

कदाचित् कौवा सुन्दर नहीं है। न रूप, न रंग। काला कलूटा और उस पर एकाक्ष। यह भी सच है कि उसके पास कोयल जैसा मधुर कंठ नहीं है। किन्तु बच्चे उसे चाहते हैं। रूप और रंगहीन "संगे असबद" की तरह वह उनकी प्रीति का भाजन है। यद्यपि प्रीति के लिए कारण की अपेक्षा नहीं, क्यों कि भक्ति-सूत्र - कार नारद ने प्रेम वा भक्ति को "गुणरहित" कहा है। गुणों को देखकर होने वाला प्रेम तो वस्तुतः गुणों से ही होता है, गुणी से नहीं। प्रेमी को प्रेमास्पद में गुण-दोष देखने का अवकाश कहाँ ? सकारण प्रेम माया-संभूत और क्षण-भंगुर होता है, किन्तु कारण रहित, निर्व्याज प्रेम प्रतिक्षण वर्द्धमान् और चिरस्थाई होता है। फिर कालापन कोई दोष नहीं। छोड़िये सूर को जो व्रज-गोपिकाओं का पक्ष लेकर कालों के पीछे पड़ गये और जो मन में आया कह गये, आज-कल के वकीलों की तरह, जिन्हें तथ्य और वास्तविकता से कोई प्रयोजन नहीं, "वदतो व्याघात" का भय नहीं। केवल प्रतिपाद्य पर दृष्टि है। कहते हैं—

"सखि री स्याम हित मानै।
कोऊ प्रीति करै कैसे हू, वै अपनो गुन ठानै॥

.....

"सूरदास" जो सरबस दीजै, कारो कृतहि न मानै॥"

अथवा—

"ऊधो अब नहिं स्याम हमारे।
इतनिहिं दूरि भये कछु औरै, जोहि जोहि मग हारे॥
कपटी कुटिल काक कोकिल ज्यों अन्त भये उड़ि न्यारे॥"

अस्तु, सूर की दृष्टि में काले न तो विश्वास के योग्य हैं और न प्रेम के। वे कृतघ्न भी हैं, किसी के उपकार को नहीं मानते। भ्रमर को देखिए—"रस लै जाय उड़त अन्तर्हित प्रीतम चितहिं बिसारे।" ...और कोयल—"कोकिल कुटिल कपट वायस छलि फिरि

नहिं वहि बन जात।" फिर कृष्ण कैसे पीछे रहते। वह गोपिकाओं को—"तलफत छाँड़ि चले मधुवन को फिरि कै लई न सार।" लेकिन फिर भी तमाशा यह है कि वही गोपियाँ श्याम सुन्दर की बेकौड़ी की गुलाम हैं। उनकी बेबसी देखिए—

"लोचन भये श्याम के चेरे।" और
"नैन परे रस श्याम-सुधा में।"

कितना आकर्षण है इस काले रंग में!

निदान, कौवा बच्चों का स्नेह-भाजन और उनका चिर-सहचर है। वह उनकी रात्रिकालीन छोटी-छोटी कथाओं का सुपरिचित नायक है। जब रात होती है और वे सोने के लिए चलते हैं तो उनकी बूढ़ी मां अथवा नानी प्रारंभ करती हैं—एक कौवा था, और एक चिड़िया थी। दोनों साथ-साथ रहते थे। एक दिन चिड़िया बोली—'चल चल कौवा गंगा नहा आएँ।' कौवा बोला—'चलो, खाना-वाना बनालो।' आदि। इस प्रकार वह वृद्धाओं के प्रसाद से मानवत्व का वरदान पा हँसता-बोलता, उठता बैठता और खेलता-कूदता है। फिर सहसा अवसर पा बच्चों की उनींदी आँखों में प्रविष्ट हो उनके स्वप्नों में विचरण करता है। धीरे धीरे रात बीतती है, और ऊषा सौरभ और कुंकुम की वर्षा करती हुई प्राची में उदित होती है। बच्चे उठे नहीं कि वह उनका कृष्ण काय एवं कर्कश-कंठ सहचर 'काँव' 'काँव' करता हुआ पुनः उनके आगे उपस्थित है!

कालापन कोई दोष नहीं है। आखिर कालापन है क्या ..यावत् रंगों का अभाव। और रंग और रूप के अभाव का नाम है ईश्वरत्व! देखिए वेसुध ताज का पागलपन! वह किसी साँवले-सलौने पर किस प्रकार मुग्ध है कि उसे न इस लोक की मर्यादा का ध्यान है और न परलोक की चिन्ता—

"सुनों दिलजानी, मेरे दिल की कहानी,
तुम इस्म ही विकानी, बदनामी भी सहूँगी मैं।
देव-पूजा ठानी मैं, नमाज हु भुलानी,
तजे कलमा कुरान, साडे गुनन गहूँगी मैं।

साँवला सलौना सिरताज, सिर मुल्लेदार,
तेरे नेह दाग मैं, निदाघ ह्वै दहूँगी मैं।
नंद के कुमार, कुरबान ताणी सूरत पै,
ताण नाल प्यारे, हिन्दुआनी ह्वै रहूँगी मैं॥

और उधर मतवाली मीरा भी किसी "साँवली सुरत" पर अपने सर्वस्व की बाजी हार बैठी। प्रेम की कटारी कैसी गहरी लगी है—

प्रेमनी प्रेमनी प्रेमनी रे,
मन लागी कटारी, प्रेमनी रे!
कांचे ते तांत ने हरिजीये बाँधी,
जेम खेंच तेमनी रे!
मीरा के प्रभु गिरिधर नागर,
साँवली सुरत सुभ एमनी रे!

मीरा कच्चे सूत से बँधी तो पर उसे शीघ्र ही विदित हो गया कि प्रीतिकरना कितना कठिन है, और उसे निभाना कितना दुस्तर है। पहले से जानती और उसका वश चलता तो वह ढिंढोरा पिटवा देती कि कोई प्रीति न करे। पर अब क्या, जो होना था हो चुका। दुष्ट पपीहे को क्या सूझा जो उसके पास आकर ही 'पी' 'पी' कर रहा है। मीरा उसे बरजती है —

"रहु रहु पापी पपिहरा रे! पिव को नाम न लेय।
जे कोई विरहिन सांम्हले, तो पिव कारन जिव देय॥

पर कौवे से प्रार्थना करती है—

"काढ़ि करे जो मैं धरूं रे, कौवा तू लै जाय।
ज्याँ देसाँ म्हारो पिव बसे रे, वे देखत तूं खाय॥

किन्तु साथ ही अनुरोध है—

"कागा सब तन खाइयो, चुन चुन खइयो मास।
दो नेना मत खाइयो, मोहि पिया मिलन की आस॥

प्रियतम से मिलने की आशा तो प्रत्येक प्रेयसी को होती है, और कौवा होता है उस आशा का अग्रदूत। प्रातः काल वह प्रियतम के

आगमन का शुभ संदेश लेकर कांव कांव करता हुआ घर आता है। वियोगिनी फूली नही समाती। आनंदातिरेक से उसका रोम-रोम पुलकित हो जाता है। कौवा रह-रह कर बोलता है। विरहिणी उत्कंठित होती है! सोचती है, शायद आज उसके प्रियतम आ जांय। यदि आये तो विद्यापति के शब्दों में वह अपने प्यारे संदेश-वाहक की चोंच सोने से मढ़ा देगी—

मोरा रे अंगनवा चनन केर गछिया,
ताहि चढ़ि कुरुरय काग रे।
सोने चोंच बांधि देव तोय वायस,
जओं पिया आओत आज रे!

और "कुरुरय" शब्द भी देखिये। उसने कौवे के कंठ की कर्कशता का परिहार कितनी सुन्दरता से किया है। ठीक भी है, जो प्रियतम का मधुर संदेश लेकर आ रहा है वह कटुवादी हो कैसे सकता है!

अस्तु, प्रेमी-जनों का विरह-संदेश काव्य का सामान्य विषय है, और कितने ही सहृदय कवियों ने उस पर लेखनी चलाई है। किसी ने मेघ को, किसी ने हंस को और किसी ने वानर को उसका माध्यम बनाया है। किन्तु, जायसी को छोड़कर और किसी को यह न सूझा कि यह महत्वपूर्ण कार्य कौवे के द्वारा भी सफलतापूर्वक हो सकता है। विरह-विधुरा नागमती कहती है—

"पिउ से कहेउ संदेसड़ा, हे भौंरा, हे काग।
सो धनि विरहिन जरि मुई, तेहिक धुआँ हम लाग॥

अर्थात हे कौवे, और हे भौंरे, तुम मेरे प्रियतम से टुक यह कह देना कि तुम्हारी प्रेयसी विरहाग्नि में जल मरी, और उसी के धुंए से हम काले हो गए हैं।

कौवा काला पड़े हो किंतु वह कुरूप नहीं। सुंदरता वा कुरूपता वस्तुगत नहीं भावगत होती है। समय पर सारी चीजें अच्छी लगती हैं। कज्जल मलिन होता है किन्तु सुन्दरी के नेत्रों में वह भी शोभा पाता

हिन्दुस्तानी एकेडमी, उ० प्र०
(५५५३)
लाहौबाद

(इसके बावजूद) कुछ लोग फिर भी कौवे की निंदा करते नहीं थकते। वे उसे काला कर्कश और धूर्त सभी कुछ कहते हैं। बाबा दीन दयालु गिरि को देखिए, कैसे कठोर शब्दों में कौवे की भर्त्सना करते हैं—

"हे रे काग कठोर रट, कीरहि दूखत काह।
सुनिकै इनकी मधुर धुनि, मोहत हैं नरनाह।
मोहत हैं नरनाह, हेम पिंजर में राखैं।
इनहीं के मुख लखैं, बैन इनके अभिलाखैं।
बरनै दीन दयाल लगै विष लौं तब टेरे।
कोपैं सब इहिं लागि, भागि ह्यां लें खल हे रे॥"

अस्तु, प्रपंच की विधात्री त्रिगुणमयी माया के रचे हुए इस संसार में निंदा और स्तुति को छोड़कर और है क्या? जहाँ तक स्तुति का संबंध है वह तो विरले ही जन करते हैं, किन्तु निंदा तो कलियुग में मुख की शोभा और वाणी का विलास है। कोई सुकृती उससे बच नहीं सकता। तुलसीदास को लीजिए। शायद शक्रसुत जयन्त की धृष्टता से खीजे हुए थे। उन्हें भी खलों का वंदन-अभिनन्दन करते समय कौवे की याद आही गई। कहते हैं—

"वायस पालिय अति अनुरागा।
होहिं निरामिष कबहुं कि कागा॥"

इतना ही क्यों?.... वे तो उसे प्रत्यक्ष दुष्टों की कोटि में रख देते हैं—

"खल उपहास होय हित मोरा।
काक कहहिं कल कंठ कठोरा॥"

किन्तु कोई उनसे पूछे कि उनके 'मानस' का सम्पूर्ण काव्य-संभार किसके कंधों पर टिका हुआ है, और किसके मुखसे उन्होंने अपने भक्ति-भावों की मधुर व्यंजना तथा गूढ़ातिगूढ़ दार्शनिक विचारों की मार्मिक विवेचना की है?...."निरामिष" और "खल" कौवे के महान् पूर्वज काक भुशुंडि के मुख से ही तो!

और उधर बिहारी को देखिए। राज-दर्बार में किसी गुणी का अपने से अधिक आदर-सत्कार होते देखकर जल मरे। खीझकर कौवे के व्याज से कहते हैं—

"दिन दस आदरु पाइक, करिलै आपु बखानु।
जौ लगि काग! सराध पखु, तौ लगि तो सनमानु॥"

विहारी को भला लगे या बुरा किन्तु पितृ-पक्ष में तो कौवे को आदर मिलता ही है। इसे यमराज का बरदान समझिए अथवा वलिवैश्व का विकृत रूप, किन्तु उन दिनों तो निश्चित रूप से उसकी पाँचो घी में और सिर कड़ाई में रहता है। जो कुछ पितरों या पितृ-मुखों के लिए बनता है—खीर, पूड़ी, हलुवा, दही-बूरा आदि सभी कुछ उसे सम्मान के साथ बुला बुलाकर दिया जाता है। क्यों?...इसलिए कि कौवा यथार्थतः मानव-समाज का परम हितैषी और सच्चा लोक-सेवी है। आज कल के अधिकांश देशध्वज नेताओं की भांति "करतव वायश वेश मराला" नहीं अपितु वस्तुतः "कर्म मराल वेश वायल कँह" है। कौन नहीं जानता कि वह कृपामयी प्रकृतिदेवी के स्वायत्त-विभाग का सचिव और महामन्त्री गृद्धराज का आज्ञाकारी अनुचर है। घर-बाहर, बाजार-हाट, खेत-क्यार और वन-उपवन सभी कहीं उसकी गति है। जहाँ कँहीं भी कोई गंदी अथवा त्याज्य वस्तु पड़ी हो जिससे वातावरण दूषित अथवा दुर्गंधपूर्ण होता हो तो वह उसकी सफाई के लिए आदर्श सेवक की भांति सदैव प्रस्तुत रहता है। यदि वह और उसके दूसरे भाई-बंधु न हों तो नगर-पालिका और उसके वाक्-चपल किंतु क्रिया-मंद पिता-पुत्रों एवं भृत्यों के देखते-देखते रमनीय और जन-संकुल नगर वीभत्स और भयावह स्मशान बन जांय इसमें संदेह नहीं। क्या इस महत्यपूर्ण सेवा के लिए हम उसके कुछ कम ऋणी हैं?

—:—

एटा,
१—६—५३

: ७ :

कोयल

विधाता की सृष्टि में एक से एक बढ़कर सुंदर पक्षी हैं किन्तु कंठ की कमनीयता में कोयल की समता करने वाला कोई नहीं। रूप और रंग में उस काली-कलूटी के आगे कौवों की बरात और भादों की घोर अँधियारी रात फीकी जान पड़ती है, परन्तु उसके स्वर - माधुर्य का क्या कहना। जब कूकती है तो ऐसा जान पड़ता है मानों श्रुति-पुटों में कोई रह-रहकर अमृत की वर्षा कर रहा हो। निश्चय ही उसके पास मयूर की मंजुलता, हंस का गत्युन्माद और रसिकजन को सहज ही आकृष्ट करने वाली खंजन की चंचलता नहीं होती किन्तु उसके बोल ही इतने मीठे और रस के सने होते हैं कि उनके सुनते ही चराचर जगत अनायास उसके वशीभूत हो जाता है!

जब शिशिर अपनी कुहरे की धुँधली चादर में वृक्षों से गिरी हुई असंख्य रूखी-सूखी पीली पत्तियों को बाँधकर क्षितिज के पार चला जाता है, और नाना प्रकार के सुन्दर और सुगंधित पुष्पों तथा नूतन किशलय-दलों के साथ बसंत का आगम होता है तब सुवर्ण मंजरी के सुकुमार भार से झुकी हुई लौनी-लौनी रसाल-डालों में छिपकर वह अकस्मात् बोल उठती है—'कुहकू', 'कुहुकू'...! उसके बोलते ही मानिनी का मान भंग हो जाता हैं। मान रहे भी तो कैसे? वह देखती है मानों कोयल उसी को लक्ष्य कर कह रही है— "अरी पगली कह-क्यों नाराज़ है? अब तेरी यह नाराज़ी चलेगी नहीं। देखती नहीं भ्रमरों की अद्भुत प्रत्यंचा वाला पुष्पों का धनुष लिए हुए मन्मथ आ पहुँचा! हंसी छोड़

और जा अपने प्रियतम से हिलमिल। यह समय रूठने का नहीं।" और उधर विरह-विधुरा प्रोषितपतिका भी अपने किसी निठुर प्रवासी की सुधि से कातर होकर पुकारती है :—

"अँबवा की डाली पै काली कोइलिया बोले,
आजा बलमवा हमार !"

वह धैर्य भी कैसे धारण करे। उस बेचारी के चारों ओर का वातावरण उसका उपहास-सा जान पड़ता है। वसंत में गदराई बेलरियों को देखकर वह कैसी खीझती है और कहती है :—

तैं अब जाइ बेइलिया, जरि बरि मूल।
पिय बिन सूल करेजवा, लखि तव फूल॥

का तुम मंजु मलितिया, झलरत जाति।
पिय बिन मन हुकरैया, मोहि न सुहाति॥

और उस ढीढ कोयल को भी देखिए जो उसे चैन ही नहीं लेने देती। सुबह से ही शोर मचाना शुरू कर देती है। वह कैसे मीठे और मनुहार भरे शब्दों में उसे ज़रा चुप रहने के लिए कहती है :—

भोरहि बोलि कोइलिया बढ़वति ताप।
घड़ी एक भरि अलिया, रहु चुपचाप॥

जिस प्रकार वर्षा के प्रसंग में बक, चातक और शिखी तथा शरद् के प्रसंग में हंस, खंजन और चक्रवाक का वर्णन छोड़ा नहीं जा सकता उसी प्रकार वसंत के प्रसंग में कोयल को भी नहीं भुलाया जा सकता। भुलाया भी कैसे जा सकता है ? वह वसंत की रानी जो ठहरी ! उसकी कूक सुनते ही अलसाई हुई प्रकृति मानों सजग होकर उठ बैठती है। वनस्थलि टेसू, सरसों और मटर आदि के नाना प्रकार के रंग-बिरंगे फूलों से सुसज्जित हो जाती है। आमों की डालियाँ सोने सी पीली सुगंधित मंजरियों से लद जाती हैं। सरोवर फिर से कमलों से सुशोभित हो जाते हैं और उनमें असंख्य मधुकर-मधुकरियों का गुंजार होने लगता है। कुंज-पुंजों में विचरता और पुष्पों का अपरिमित पराग लुटाता शीतल-मंद सुगंधित मलयानिल बहने लगता है।

समझ में नहीं आता कि "ऋतूनां कुसुमाकरः" कहने वाले ने अपने को वृक्षों में अश्वत्थ और पक्षिओं में गरुड़ कैसे कहा और फिर कैसे किसी उपनिषद्कार ने उसे "कवि" की उपाधि से भूषित किया ? पता नहीं कौनसा सौंदर्य होता है उस कुत्सित भूताधिवास अश्वत्थ में और कौनसा आकर्षण है उस गर्हित पन्नगाशी वेनतेय में ? जिसने अपने पादपों में आम्र और पक्षियों में कोकिल नहीं कहा वह सृष्टि रचना मात्र में कितना ही कुशल हो पद्य-रचना-समर्थ केशव के समान कवि का हृदय नहीं रखता ! सचमुच जो वर्षा-काल में आँखें बंद कर एक दो दिन के लिए नहीं चार-चार मास के लिए प्रगाढ़ निद्रा में निमग्न हो जाता हो उसके पास कवि का हृदय है भी कहां ? समझ में नहीं आता जब काले-काले मेघ गुरु गर्जन करते हुए आकाश को गुंजाते और वायु-प्रेरित अपनी असंख्य भुज-लताओं में विद्यु को आवेष्टित करने के लिए दौड़ लगाते हैं तो कोई कैसे सोता है और वह भी "सौम्या सौम्यतराशेष-सौम्येभ्यस्त्वतिसुंदरी" की संनिधि में !

साहित्य में कोयल वसंत ऋतु के प्रधान उद्दीपनों में गिनी गई है। अतएव उसके प्रसंग में कवियों ने उसका खूब जी खोलकर वर्णन किया है, पर वर्षा के संबंध में कहा गया है कि वह मौन हो जाती है। रहीम कहते भी हैं:—

पावस देखि रहीम मन, कोयल साधे मौन।
अब दादुर वक्ता भए, हमहि पूछिहै कौन॥

वस्तुतः देखा जाता है कि ग्रीष्म और वर्षा में कोयल बोलती है, यह दूसरी बात है कि उस समय उसके स्वर में वह माधुर्य न हो जो वसंत में होता है। अलबत्ता जाड़ों में उसका मौन ऐसा अखंड और आश्चर्य-जनक होता है कि लोगों को यह भ्रम हो गया है कि वह कदाचित् इस ऋतु में कहीं अन्यत्र चली जाती है। जो हो हिंदी-कवियों ने इस संबंध में कवि-जगत में प्रचलित किसी रूढ़ि का पालन नहीं किया। उन्होंने वर्षा के प्रसंग में कोयल का बराबर उल्लेख किया है और बहुत अधिक।

इला, पिंगला और सुषमन के फेर में पड़ "सुन्न-महल" में भटकने वाले संत कवियों को जब शुक-पिक-कपोत और खंजन के समुच्चय नारी

रूप में ही कोई आकर्षण नहीं देख पड़ा तो अकेली कोयल का क्या कहना। उन्हें "अनहद" से अवकाश मिलता तो उसकी ओर ध्यान देते। रहे सूफ़ी कवि सो वे भी बसंत के प्रसंग में उसे कभी-कभी भूल जाते हैं। जायसी जैसे सहृदय को भर "वसंत-खंड" में कहीं कोयल का स्मरण नहीं हुआ। होता भी कैसे? अप्रस्तुत के विधान की झोंक जो ठहरी। कोयल को उन्होंने विरह - विह्वला वियोगिनी के रूप में देखा है। अतः वसंत में, जो सुख-संयोग और सौभाग्य का सूचक है उसकी चर्चा कैसे होती? पर वर्षा ऋतु में जायसी नागमती के मुख से कहते हैं :—

"औनई घटा आइ चहुँ फेरी। कंत उबारु मदन हौं घेरी।
दादुर मोर कोकिला पीऊ। गिरे बीजु घट रहै न जीऊ॥

"दरद दिवाणी" मीरा भी पावस ऋतु में ही हरि के आने की आवाज़ सुनती हैं और उत्कंठित होकर कहती हैं :—

"सुनी हो मैं हरि आवन की आवाज।
ऊंचे चढ़ि चढ़ि जोऊं मेरी सजनी कब आवें महाराज॥
दादुर मोर पपइया बोलै, कोइल मधुरे साज।
उमग्यो इंद्र चहूँ दिसि बरसै, दामिनि छोड़ी लाज॥
धरती रूप नवा-नवा धरिया, इंद्र मिलण के काज।
"मीरा" के प्रभु हरि अविनासी, वेग मिलो महाराज॥

और केशवदास जी भी अपने अंतःकक्ष में बैठे किसी पाषाणी के प्रकोप पर खेद प्रकाशित करते हुए पावस के प्रसंग में ही कोयल का स्मरण करते हैं :—

सिखे हारी सखी, डरपाइ हारी कादंबिनी,
दामिनी दिखाइ हारी दिसि अधिरात की।
झुकि-झुकि हारी रति, मारि-मारि हाइयो मार,
हारी झकझोरति त्रिबिध गति बात की।
दई निरदई दई वाहि ऐसी काहे मति,
जारति जु ऐन रैन दाह ऐसे गात की।
कैसे हु न माने हो मनाइ हारी "केसोराय"
बोलि हारी कोकिला, बोलाइ हारी चातकी॥

और देव की प्रोषितपतिका तो अपनी सखी को निर्देश ही करती है :—

आई ऋतु पावस, न आए प्रान प्यारे यातें,
मेघनि बरजि आली गरजि सतावैं ना।
दादुर न बोलैं, बकि बक जिन फोरैं कान,
कोकिल हु भूलि हठि सबद सुनावैं ना।
हौं तो विरहा में अतिव्याकुल भई हों "देव",
जुगनू चमकि चित चिनगी लगावैं ना।
चातक न गावैं, मोर सोर न मचावैं,
घन घुमड़ि न छावैं, तौलों लाल घर आवैं ना॥

पर लाल आवैं कैसे ? आलम की नायिका को तो यही संदेह है कि जहाँ उसके प्रियतम बिलम रहे हैं वहाँ विधाता का विधान ही कदाचित् दूसरा है :—

"कैधौं मोर सोर तजि गए री अनत भाजि,
कैधों उत दादुर न बोलत हैं ए दई।
कैधौं पिक चातक महीप काह मारि डारे,
कैधौं बक पाँति उत अंतगति ह्वै गई।
"आलम" कहै आली ! अजहूँ न आये पिय,
कैधौं उत रीत विपरीत बिधि ने ठई।
मदन महीप की दुहाई फिरिबे तैं रही,
जूझि गए मेघ कैधौं बीजुरी सती भई॥

जो हो पर कोयल के वास्तविक शील का मर्म अंधे सूरदास को छोड़कर और किसी के हाथ न लगा। इस बात को वही जानते थे कि यह मृदुभाषिणी कितनी कुटिल और कठोर है जो कौवे को धोखा देकर उसके अंडों को खा जाती है और उनके स्थान पर अपने अंडे रखकर उन्हें उससे पलवाती है। कृष्ण के गोकुल छोड़कर मथुरा बसने और अपने को वसुदेव और देवकी का पुत्र घोषित करने पर उन्होंने कोयल के व्याज से ही उन्हें बार-बार उलाहना दिया है :—

मधुकर आवत यहै परेखो।
जब बारे तब आस बड़े की, बड़े भये सो देखो॥
जोग जज्ञ, तप दान, नेम व्रत करत रहे पितु मात।
क्यों हूँ सुत जो बढ्यो कुसल सें, कठिन मोह की बात॥
करनी प्रगट प्रीति पिक कीरति, अपने काज लौं भीर।
काज सरयो दुख गयो कहाँ धौं, कँह वायस को वीर॥
जँह-जँह रहौ राज करौ तँह-तँह, लेव कोटि सिर भार।
यह असीस हम देति "सूर" सुनु न्हात खसै जनि बार॥

ठीक भी है संसार में "मिठबोलों" का बाल खसता भी कब है!

—:—

एटा
१—२—५६

: ८ :

कवि के जीवन की विडंबना

कवि-कर्म कितना कठिन है, इसे कोई काव्य-मीमांसाकार राजशेखर से पूछे, किन्तु वह महत्वपूर्ण भी है, इसके साक्षी वेद हैं। ईशोपनिषद् में कवि शब्द को परमेश्वर का वाचक कहा गया है,—"कविर्मनीषी परिभू स्वयंभू"। और, इसमें संदेह नहीं कि कवि की कल्पना - सृष्टि विधाता की वास्तविक सृष्टि से कम रमणीय, आनंदोत्पादक, चित्र-विचित्र और लीलामयी नहीं होती। सच तो यह है कि विधाता की सृष्टि सार - गर्भित उपादानों से संघटित होकर भी निस्सार और क्षणस्थायी होती है। अंतर्दृष्टि - संपन्न विवेकी जन के लिए उसमें कोई आकर्षण नहीं होता। किंतु, कवि की सृष्टि अमूर्त एवं भावना मात्र होकर भी नितरां सुंदर, सजीव और हृदयग्राही होती है। कल्पना - प्रसूत होते हुए भी वह सत्य और शाश्वत होती है। जरा औरमृत्यु के लिए दुर्ग्रास्य उस नैसर्गिक किंतु विलक्षण, विशद किंतु रहस्यमयी सृष्टि के माधुर्य का क्या कहना - "ज्यों ज्यों निहारियै नेरे ह्वै नैननि, त्यों त्यों खरी निकरै सी निकाई"।

अस्तु, कवि मानव - समाज का महत्वपूर्ण अंग है। वह किसी देश अथवा जाति को प्रकृति की अद्भुत देन है। उसके महान् व्यक्तित्व में मंत्र - दृष्टा ऋषि वा पैग़ंबर, क्रांतदर्शी विचारक वा दार्शनिक, सहृदय लोक - नायक वा लोक - गायक के व्यक्तित्व सन्निहित रहते हैं। उसके नेत्रों में दिव्य दृष्टि, उसकी वाणी में अमोघ शक्ति और

उसके हृदय में अडिग साहस होता है। वह "गुमराही के जंगलों में नहीं भटकता", बल्कि भटके हुओं को ठिकाने लगाता है। मौलाना रूप ने ठीक कहा है— "शायरी जुज़ वेस्त अज़ पैग़ंबरी" अर्थात् शायरी वा कविता पैग़ंबरी का एक हिस्सा है। किंतु हिस्सा ही क्यों ?... अंग्रेजी के सुप्रसिद्ध विद्वान् लेखक कार्लायल के अनुसार तो वह पैग़ंबरी का भी प्रकृष्ट रूप है। कवि एक ऐसा सुसंपन्न और सर्वांगीण व्यक्तित्व है जिसे पाकर कोई देश धन्य हो जाता है। युग बदल सकते हैं, श्रद्धा और भक्ति के परम पावन आधार भी स्खलित हो सकते हैं किंतु मानव - जाति के हृदय - पटल पर अंकित साहित्य-कार की मूर्ति अपने स्थान पर अविचल होती है। बड़े - बड़े साम्राज्यों के विधाता और रण - कुशल सेनानी आज कहां हैं ?... संभवतः इतिहास के पृष्ठों में। किंतु वाल्मीकि और व्यास, कालिदास और भवभूति, सूर और तुलसी, होमर और वर्जिल, दांते और शैक्सपियर काल की उपेक्षा करते हुए आज भी जीवित हैं।

कवि अमर है। चिर - कीर्ति का भागी है। उसके स्मारक बनते हैं, जयंतियाँ मनाई जाती हैं, मेले और उत्सवों का आयोजन होता है, श्रद्धांजलियाँ अर्पित की जाती हैं। किंतु यह सब कब होता है ?... क्या उसके जीवन-काल में ?... हरे कृष्ण ! ये सब तमाशे तो प्रायः उस समय होते हैं जब वह रो - रोकर इस संसार से बिदा हो जाता है। कवि के विडंबनापूर्ण जीवन का कितना मार्मिक आभास प्रसाद जी की पंक्तियों में मिलता है :—

रो - रोकर सिसक सिसक कर कहता मैं करुण कहानी।
तुम सुमन नोंचते सुनते, करते जानी अनजानी॥

कवि अपनी अथवा संसार की व्यथा को शब्दों में व्यक्त करता है किंतु अपने सुख से उन्मत्त संसार या तो उसे एक कान से सुनता और दूसरे से निकाल देता है अथवा उसे केवल मात्र अपने विनोद का साधन बनाता है। बच्चन के शब्दों में - कवि वस्तुतः रोता है जब कि संसार समझता है कि वह गाता है, कवि बिलखता है जब कि संसार समझता है कि वह छंद बनाता है !

साहित्य - शास्त्रिय ने काव्य के "यशसे", "अर्थकृते" और "व्यवहारविदे" आदिक चाहे जितने प्रयोजन गिनाये हों किंतु "स्वांतःसुखाय" को छोड़कर और कोई ऐसा प्रयोजन नहीं जान पड़ता जो विवाद की सीमा से परे हो। हाँ, इस कोरी मन की प्रसन्नता को छोड़कर कवि को संसार में और मिलता ही क्या है ? लोक - सुख की व्यवस्था के लिए एकमात्र साधन धन - संपत्ति तो उसकी छाया से दूर भागती है। रहा यश सो उसके लिए भी कभी कभी भवभूति जैसे उच्च-कोटि के कलाकार जीवन भर तरसते रह जाते हैं। महाकवि निराला का साहित्यिक संहर्ष, जो उनकी मानसिक अशांति और विक्षिप्तता का प्रधान कारण है, अभी कल की ही बात है।

अतः कवियों की शोचनोय आर्थिक दशा के वर्णन से "भोज - प्रबंध" भरा पड़ा है। किसी के अन्नाभाव से बच्चे दुखी हैं तो किसी की स्त्री पर तन ढकने के लिए वस्त्रों का अभाव है। राज - तरंगिणी में मालव - नरेश हर्षदेव के आश्रित मातृगुप्त नामक कवि की दुरवस्था का कैसा हृदय - द्रावक वर्णन है। "मैं इस कठिन शीत - काल में अग्नि के सहारे रात्रि व्यतीत कर रहा हूँ। मेरा शरीर कांप रहा है। भूख के मारे मेरी बोली नहीं निकलती। मैं चिंता के समुद्र में डूब रहा हूँ। न तो मुझे नींद आती है और न इस रात का अंत दिखाई देता है !"

गोस्वामी तुलसीदास की तो रचनाओं से ही स्पष्ट है कि उनका प्रारंभिक जीवन असहनीय कष्टों में बीता। वह भूखे - प्यासे दरवाज़े - दरवाज़े भटके और संसार को निर्लज्ज होकर अपना खाली पेट दिखाया। भूख से पीड़ित होकर उन्होंने जाति - कुजाति के टुकड़े खाए। अगर किसी ने दयाकर उनके साथ पर चार चने भी रख दिए तो उनको उन्होंने धर्मार्थ - काम - मोक्ष के तुल्य समझा। उनके दुःख को देखकर दुःख का भी हृदय विदीर्ण होता था। विनय - पत्रिका में लिखते हैं :—

हा - हा करि दीनता कही द्वार - द्वार बार - बार,
परी न छार मुंह बायो।
असन बसन बिन बावरो जँह - तँह उठि धायो॥

महिमा - मान प्रिय प्राण से तजि खालि खलन आगे खिनु - खिनु
पेट खलायो।
साँच कहौं नाच कौनसौ जो न मोहि लोभ लघु निलज नचायो॥

अंग्रेजी का सुप्रसिद्ध कवि और नाटक - कार गोल्डस्मिथ आर्थिक चिंताओं से जर्जरित होकर मरा। स्काटलैंड का सर्वश्रेष्ठ जातीय कवि एवं निसर्गसिद्ध गायक बर्न का करुण अवसान भी आर्थिक - संकोच के कारण हुआ। उर्दू के सर्वश्रेष्ठ ग़ज़ल - लेखक मीर तकी मीर को निर्धनता के कारण भूखों तक रहना पड़ा। उसकी आह में कवि के जीवन की विडंबना का रहस्य छिपा हुआ है। दारिद्र्य और संताप की ज्वाला में झुलस - झुलस कर प्राण त्यागने वाले मीर को आज संसार उर्दू - साहित्य का स्तंभ कहता है!

यह सत्य है कि संसार में ऐसे अनेक साहित्यकार हुए हैं जिनका जन्म सुसंपन्न परिवार मे हुआ था। कुमार दास सिंहल का स्वामी और हर्षवर्द्धन उत्तरभारत का सम्राट् था। भोज अवंती-नरेश था और बहादुरशाह ज़फर दिल्ली का शाहंशाह। इनके अतिरिक्त माघ रहीम, भारतेंदु हरिश्चंद्र, लार्ड वायरन, टेनीसन, टालस्टाय एवं रवींद्र नाथ ठाकुर आदि कितने ही ऐसे व्यक्ति हुए हैं जिन पर लक्ष्मी की असीम कृपा रही थी। उनका वैभव असाधारण था माघ के ऐश्वर्य को देखकर तो अवंती का स्वामी भी चमत्कृत हो गया था। किंतु ये सब उदाहरण अपवाद मात्र हैं, नियम नहीं। अधिकांश साहित्यकारों का जीवन मूर्त हाहाकार होता है। वह मानों एक ऐसा दीपक होता है जो अपने अंचल में नैराश्य का दुखद अंधकार समेटे निरंतर आलोक-दान करता है।

कतिपय साहित्यकार जीवन की कठिनाइयों से घबरा कर राज्याश्रम की खोज में निकल जाते हैं। किंतु वहाँ भी आत्म-वंचना के सिवा और क्या है? न स्वाधीनता, न स्वाभिमान। ठकुर-सुहाती कहते रहिए और दिन काटिए। ज़रा भी इधर-उधर हुए कि प्राणों पर आ बनी। भला जहाँ देवताओं का यह हाल हो कि :—

"रीझि-रीझि दिए बर, खीझि-खीझि घालें घर।
आपने निबाजे की न काहु को सरम॥"

वहां संसार के स्वामियों का क्या ठिकाना जो :—

"जूड़े होत थोरे ही, थोरे ही गरम।"

मन में आया तो कवि को हाथी घोड़ा और जागीर आदि देकर मालामाल कर दिया, और बिगड़ गए तो उसके तत्काल प्राण ले लिए। भारत का अत्यंत प्राचीन और श्रेष्ठ कथाकार गुणाढ्य अपने आश्रयदाता सातवाहन की मूर्खता के कारण निर्वासित हुआ। एक निर्जन और महा भयंकर वन में पिशाचों के बीच क्लेशपूर्ण जीवन व्यतीत करते हुए उसने "वृहद्कथा" नामक जिस विशाल और अपूर्व आख्यायिका-ग्रन्थ की रचना की, संसार का कथा-साहित्य उसका ऋणी है। किंतु गुणाढ्य को इसका क्या प्रतिफल मिला...? सात वाहन की उपेक्षा और तिरस्कार। कहते हैं इससे बेचारे गुणाढ्य के हृदय को इतनी ठेस पहुँची कि वह अपनी रचना के साथ चिता में बैठकर जीवित ही जल गया।

शाहनामे का यशस्वी रचयिता महाकवि फिरदौसी एशिया-खंड के नितांत लोलुच सम्राट महमूद की घोरतर वंचना का शिकार हुआ। मुग़ल सम्राट अकबर की सभा का रत्न तथा अपने समय का नर-काव्य का श्रेष्ठ कवि गंग मतवाले हाथी के पैरों से कुचलवा कर मार डाला गया। व्रज भाषा का अन्यतम प्रेम-गायक घनानंद अपनी प्रेयसि सुजान के अनुरोध-पालन तथा दिल्लीपति मुहम्मदशाह रंगीले की अवज्ञा के कारण राज-दरबार से निकाला गया। सुंदरी सुभान से प्रेम करने के अपराध में रसिक कवि बोधा पन्ना राज्य से निष्काशित हुआ। अपने समय का अद्वितीय प्रतिभा-संपन्न उर्दू-कवि सैयद इंशा ज़रा-सी चूक के कारण अपने आश्रय-दाता लखनऊ के नवाब सआदत अली खां की नज़रों से गिर गया। इंशा का दरबार में आना बंद कर दिया गया। वृत्ति रोकदी गई और तरह तरह की पाबंदियां लगा दी गईं। उन्हीं दिनों जवान बेटा भी चल बसा। इंशा का हृदय विदीर्ण हो गया। वासंती वायु को लक्ष्य कर कही गई उनकी अंतिम पंक्तियाँ कितनी मार्मिक हैं :—

न छेड़ ए नखते बादे बहारी राह लग अपनी
तुझे अठखेलियाँ सूझी हैं हम बेज़ार बैठे हैं॥
भला गर्दिश फ़लक की चैन देती है किसे इंशा।
ग़नीमत है जो हमसूरत यहाँ दो-चार बैठे हैं॥
कमर बाँधे हुए चलने को यां सब यार बैठे हैं।
बहुत आगे गए बाकी जो हैं तैयार बैठे हैं॥

उर्दू गज़ल के सम्राट् महाकवि ग़ालिब का अंतिम जीवन अत्यंत कष्ट-पूर्ण बीता। लिखते हैं—"कहना, अब तक जीता हूँ। और इससे ज्यादा हाल मेरा मुझको भी नहीं मालूम। गाह बगाह जब दिल उलटने लगता है तब दस-पाँच बार यह मकता ज़बान पर आ जाता है:—

ज़िंदगी अपनी इसी ढब से जो गुज़री ग़ालिब।
हम भी क्या याद करेंगे कि खुदा रखते थे॥

ग़ालिब खुदा रखते हों या न रखते हों पर इसमें कोई संदेह नहीं कि दुनिया के छल-प्रतंच से दूर साहित्य की एकांत साधना में लीन निरीह साहित्यकार का ईश्वर को छोड़कर और कोई दूसरा होता नहीं!

—:—

एटा,
मार्च १९४५ तथा
२२ जुलाई १९५५

: ६ :

सत्यमेव जयते

सत्यमेव जयते नानृतं सत्येन पन्था विततो देवयानः ।
येनाक्रमन्त्यृषयो ह्याप्तकामा यत्र तत्सत्यस्य परमं निधानम् ॥

मुण्डक-६। ४६ ॥

श्रुति कहती है—सत्य ही विजय को प्राप्त होता है, झूठ नहीं। सत्य ही से से उत्तन पुरुषों का मार्ग विस्तृत और प्रकाशित होता है। जिस मार्ग से सत्य-संकल्प, सत्यवाक् और सत्य-कर्मा ऋषि लोग निरंतर बिना किसी प्रतिबंध के गमन करते हैं, तथा जिसकी प्राप्ति से अमृत की उपलब्धि होती है, वह सबका जीवनाधार ब्रह्म भी सत्य में प्रतिष्ठित है। अतः जीवन में किसी भी लक्ष्य को लेकर अग्रसर होने वाले मनुष्य के लिए सत्य का पालन अनिवार्य है। उसके बिना विजय की आशा तो दूर, यदि अधोगति से बच रहें तो बहुत है। सत्य की विजय वह सांसारिक विजय नहीं होती जिसे प्राप्त कर बड़े से बड़ा विजेता भी दीन और अकिंचन की भाँति आचरण करता है। उस विजय को पाकर मनुष्य आप्तकाम हो जाता है। शत - शत कामना रूपी तरंगों से आलीडित मन का सरोवर शांत होकर अनिर्वचनीय आध्यात्मिक सुखका कारण बनता है।

आत्मा की प्राप्ति में साधनभूत जिन उपायों का उपनिषद्कार ने अन्यत्र भी वर्णन किया है, उनमें सत्य का स्थान सर्वप्रथम है —

सत्येन लभ्यः तपसा ह्येष आत्मा सम्यग् ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम्।
मुण्डक—५। ४७ ॥

अर्थात — शरीर के भीतर स्वयंप्रकाशमान् आत्मा निश्चय ही सत्य, तप, सम्यग् ज्ञान तथा ब्रह्मचर्य के पालन करने से प्राप्त होने योग्य है। अतएव, सत्य हमारे कल्याण का उपादान तथा अभ्युदय का एकमात्र जनक है। यह सोचकर हमें नित्य प्रति दृढ़तापूर्वक उसका पालन करना चाहिए। सत्य - स्वरूप भगवान् को छोड़कर संसार में किसी की सत्ता नहीं और वही नाना रूप होकर इस संसार में व्याप्त है। अतः एकमात्र सत्य ही यहां सबके द्वारा सेवनीय और आराधनीय है।

सत्य कभी पराजित नहीं होता। सत्य अनीति परायण आततायी के आगे झुकता भी नहीं। सत्यवादी अपने इष्ट के लिए बड़े से बड़ा त्याग करने के लिए तैयार रहता है। संसार की कोई सत्ता, कोई भय, कोई प्रलोभन उसे अपने मार्ग से विचलित नहीं कर पाता। वह सत्य की वेदी पर अपने प्राणों की बलि दे देता है। सत्य के लिए सुकरात ने विष का प्याला पिया, ईसा ने मृत्यु - दंड अंगीकार किया, और लिंकन और गांधी गोली के शिकार बने। उन्होंने प्राण देकर अपने आदर्श की रक्षा की। जीवन का मर्म न समझने वाले इसमें उनकी पराजय का आभास पाते हैं। किंतु, वह जो अपने आदर्श को खोकर जीता है, जीता ही कब है, और वह जो उसकी रक्षा करता हुआ मर मिटा, मरा ही कब !

सत्य वस्ततः एक होकर भी वैविध्य का विधान करने वाली गुणमयी प्रकृति के सकाश से नाना रूपों में भासित होता है। उसमें देश, काल व्यक्ति का प्रभाव सन्निहित होता है। मंसूर का सत्य उसका अनहलक़ था, मतवाली मीरा ने अपने प्राणों को गिरिधर पर न्योछावर किया था, और भारत की स्वतंत्रता तथा आर्य जाति के अभ्युत्थान का संदेश लेकर आने वाले ऋषि दयानंद ने स्वममेव सत्य को ही अपने जीवन लक्ष्य निर्धारित किया था। और ये सब अपने अपने सत्य की आन पर मर मिटे।

कितना जबरदस्त आकर्षण है इस सत्य में कि जो इसकी ओर आकृष्ट हुआ, इसका हो गया। विमुख होना कैसा। सत्य के पथिक ने अपने

सर को हथेली पर लिया और संसार से कह दिया कि यह रही इसकी क़ीमत। जिसे गरज़ हो, आये और ले जाये। मार्टिन ल्यूथर ने पोप की सत्ता की उपेक्षा की और धर्म के नाम पर किए जाने वाले उसके अनेक कार्यों को अवैध तथा बाइबिल से असम्मत घोषित किया। पोंप कहता है— 'ल्यूथर, मैं तुझे ईसाई धर्म से बहिष्कृत कर दूंगा।" ल्यूथर कहता है—"चिंता नहीं।" पोंप कहता है—"ल्यूथर, मैं तुझे जीवित अग्नि में जलवा दूंगा।" ल्यूथर कहता है— "परवाह नहीं।" और अंत में ल्यूथर ने अनेकानेक क्लेश और यातनाएँ सहकर भी ईसाई धर्म को गिरने से बचा लिया। अब्राहिम लिंकन ने करुणा से विगलित होकर अधिवासी अमेरिकनों के कष्टों का अंत करने के लिए धर्म के संकुल और कंटकाकीर्ण मार्ग पर पैर रखा। एक तूफान आया। लिंकन ने दृढ़ता के साथ उसका सामना किया। पाशविकता की हार और मनुष्यता की जीत हुई। किंतु कब...? उस समय, जब कि हत्यारे बूथ की गोली उसके सर के टुकड़े करती हुई निकल गई!

शील सत्य का अंग है। सत्य से परे शील का कोई मूल्य नहीं। सत्य-निरपेक्ष शील वास्तव में वंचकों का अस्त्र होता है। चोर, ठग और बटमार दूसरों को लूटने के लिए उसका आश्रय लेते हैं। कौवे से युक्ति पूर्वक अपने अंडे पलवाने वाली कोयल कितना मीठा बोलती है। उसकी काकली पर मुग्ध होकर रसिक जन उसे वसंत की रानी कहते हैं। किंतु किससे छिपा है कि वह श्यामा वास्तव में तन और मन दोनों से अपने नाम को सार्थक करती है। और, निरीह, भोले - भाले हरिण के प्राणों का इच्छुक व्याध एक हाथ में धनुष और दूसरे में वीणा लेकर वन में प्रवेश करता है। उसकी कला - कुशल उंगलियाँ वीणा के तारों का स्पर्श करके मधुर मादक संगीत का सृजन करती हैं। किस लिए ?...हरिण को अपने बाण का लक्ष्य बनाने के लिए ही तो!

संभवतः शील का पक्ष लेकर ही कहा जाता है—सत्यं ब्रूयात्प्रियं ब्रूयात्, न ब्रूयात् सत्यम प्रियम्!...सत्य बोलना चाहिए। ठीक है। किंतु अनावश्यक बोलना भी क्यों चाहिए? और यदि आवश्यक हो तो प्रिय - अप्रिय का विचार करके चुप भी क्यों रहा जाय? सत्य की रक्षा हर स्थिति में होनी चाहिए। सत्य निर्विशेष रूप से सदैव प्रिय होता है। शिवम् और सुंदरम् का स्वतः समाहार करने वाला सत्य अप्रिय हो

कैसे सकता है ? जीवन को अखंड और शाश्वत मानने वाले व्यक्ति सत्य के हर रूप को कल्याण का आगार और सुगति का सोपान समझते हैं। इसीलिए कहा गया है कि सत्य से बढ़कर कोई धर्म और झूठ से बड़कर कोई पाप नहीं है।

महाभारत के शांति - पर्व में शील का महत्व प्रदर्शित करने वाली एक कथा है। इसके वक्ता भीष्म और श्रोता युधिष्ठिर हैं। देवासुर संग्राम में पराजित होकर ब्रह्मज्ञानी इंद्र अपने कल्याण का उपाय जानने की इच्छा से गुरु वृहस्पति के पास पहुँचे और बोले—"ब्रह्मन्, मुझे बताइये कि मेरा श्रेय किसमें है ?" गुरु ने कहा—"आत्म ज्ञान में।" इंद्र का समाधान न हुआ। वह शुक्राचार्य के पास पहुँचे, किंतु वहाँ भी वही हाल हुआ। शुक्राचार्य बोले—"इससे अधिक मैं नहीं जानता। तुम प्रह्लाद के पास जाओ।" अंत में विपन्न देवराज ब्राह्मण का वेश रखकर प्रह्लाद के पास पहुँचे और यत्न से उनकी सेवा करने लगे। यथासमय इंद्र ने उनसे भी वही प्रश्न किया। प्रह्लाद बोले—"शील ही त्रैलोक्य का राज्य पाने की सच्ची कुंजी है, और वही वास्तविक श्रेय है।" इंद्र का मंतव्य सिद्ध हो गया। एक दिन जब उनकी सेवा से प्रसन्न होकर प्रह्लाद ने उनसे वर माँगने के लिए कहा तो इंद्र बोले "भगवन्, आप मुझे अपना शील देने की कृपा करें।" निदान, प्रह्लाद के 'तथास्तु' कहते ही उनके शील के साथ धर्म, सत्य, श्री तथा ऐश्वर्य आदिक समस्त विभूतियाँ उनके शरीर से निकल कर इंद्र के शरीर में प्रविष्ट हो गईं। और शील संपन्न इंद्र देवलोक के राजा बने।

इसमें संदेह नहीं कथा सुंदर और शिक्षाप्रद है मर्म को स्पर्श करती है। किंतु उसके सभी पात्र मुँह खोलकर कह रहे हैं कि जीवन में शील नहीं सत्य ही वास्तविक श्रेय और अभ्युदय का जनक है। कौन नहीं जानता कि प्रह्लाद शीलवान् होते हुए भी सत्य का पुजारी है, और वह अपने सत्य के लिए शील का परित्याग कर सकता है। शील की मर्यादा के अनुसार उसे अपने पिता की आज्ञा का पालन करना चाहिए किंतु सत्य का विरोध होने पर वह उस मर्यादा को हठात् भंग कर देता है। और युधिष्ठर ?...वह तो सत्य का अनन्य पुजारी ठहरा। सत्य-परायणता को छोड़कर और कोई विशेषता उसके चरित्र में लक्षित नहीं होती। और, केवल मात्र इसी विशेषता के आधार पर वह

महाभारत के समग्र पात्रों में सबसे पृथक् और सबसे महान् दिखलाई देता है! भीष्म, विदुर और व्यास जैसे धर्मात्मा एवं गण्य-मान्य व्यक्तियों में वह सत्यवादी के रूप में ख्यात है। संक्षेप में उसके जीवन की संपूर्ण प्रगति में सत्य की विजय का इतिहास छिपा हुआ है।

सत्य का मार्ग सीधा और सुगम है किंतु उसकी साधना कभी कभी बड़ी क्लेशकर होती है। सत्य की वेदी पर साधक को अपने सर्वस्व की बाजी लगानी पड़ती है। उसे महान् विपत्तियों और कष्टों में होकर गुज़रना पड़ता है। मित्र शत्रु हो जाते हैं, घर बार छूट जाता है, बंधु-बांधव विमुख होकर त्याग देते हैं, किंतु सत्यवादी अविचलित अनवरुद्ध गति से अपने लक्ष्य की ओर अग्रसर होता है। धैर्य और दृढ़ता से वह उन विपत्तियों का सामना करता है। न मुड़ता है, न झुकता है। मिट जाय दूसरी बात है। किंतु ,नहीं अकस्मात् बादल फटते हैं। सफलता रूपी सूर्य की किरणें मुस्कराने लगती हैं, सुख-सौभाग्य का उदय होता है। जीवन की दुखद अनुभूतियाँ कहानी बनकर धीरे-धीरे विस्मृति के गर्भ में लीन हो जाती हैं।

अयोध्या-नरेश हरिश्चंद्र ने सत्य के लिए क्या क्या कष्ट नहीं सहे। राज्य छोड़ा, स्त्री और पुत्र का परित्याग किया, और नीच चांडाल के यहां रहकर सेवा करते हुए अधम जीवन व्यतीत किया। प्राण प्यारे पुत्र रोहिताश्व के अकाल निधन और अपनी शोक-संतप्त भार्या की हृदय-विदारक दशा देखकर भी वह सत्य-पथ से विमुख नहीं हुए। सोना खरा निकला। सत्य रूपी अग्नि ने तपाकर उसे कुंदन बना दिया। सत्य के प्रसाद से महाराज हरिश्चंद्र इस लोक में चक्रवर्ती राज्य के स्वामी और उस लोक में अक्षय सुख के भागी हुए।

सत्य केवल मात्र वैयक्तिक साधना ही नहीं, वह एक अनिवार्य सामाजिक धर्म भी है। उसके बिना सजीव और सुसंस्कृत समाज की कल्पना नहीं की जा सकती। जिस समाज में सब लोग मिथ्याचारी और एक दूसरे के प्रति छल-कपट का व्यवहार करने वाले हों, वह समाज कब तक और कैसे जीवित रह सकता है? यद्यपि श्रीमद्भागतत में धर्म के तप, शोच, दया आदिक चार चरणों के अंतर्गत सत्य की

गणना की गई है, तथापि सत्य वस्तुतः धर्म का प्रकृत रूप है। धर्म के उक्त सभी अङ्गों का समावेश उसमें अनायास हो जाता है। जिस प्रकार रक्त के समान और संतुलित संचार के बिना शरीर के अङ्ग शिथिल और निकम्मे हो जाते हैं, उसी प्रकार सत्य के अभाव में समाज में समष्टि की भावना नष्ट हो जाती है। हर व्यक्ति दूसरे को संदेह की दृष्टि से देखता है। स्वार्थ छल और कपट का प्राबल्य हो जाता है। और अंत में अधर्म की यह निरंतर वर्द्धमान् महाभयंकर अनिष्ट-परंपरा समाज के घोर अधःपतन एवं विनाश का कारण बनती है। अतएव क्या व्यक्ति और क्या समाज दोनों के लिए मनसा वाचा और कर्मणा निष्कपट सत्य का पालन एक आवश्यक और सर्वोत्कृष्ट धर्म है। कहा भी है :—

सत्यमेव ईश्वरो लोके सत्ये धर्मः सदाश्रितः।
सत्य-मूलानि सर्वाणि सत्यान्नास्ति परं पदम् ॥
दत्तमिष्टं हुतं चैव तप्तानि च तपांसि च।
वेदाः सत्य-प्रतिष्ठितास्तस्मात्सत्यपरो भवेत् ॥

वाल्मीकि रामायण ॥

अर्थात् सत्य ही इस संसार का स्वामी है। ईश्वर है। सत्य में धर्म का नित्य वास है। सत्य सबका मूल है। सत्य से बढ़कर अन्य कुछ नहीं है। संसार में दान पुण्य और तप आदिक शुभकर्म एवं स्वतः वेद भी केवल मात्र सत्य से ही प्रतिष्ठित हैं। अतः सत्य-परायण हो।

—:—

अगस्त १९५२

: १० :

मेरे गाँव का पीर-बादल्ला

पहासू गाँव के पश्चिम ओर जहां बस्ती का अंत है नहर के बंबे के उस पार मुसलमानों का क़बरिस्तान है जिसे लोग पीर-बादल्ला कहते हैं। उसका निर्माण गाँव के नवाबों ने किया था और उन्हीं की संरक्षा में यह अब तक काल के अनंत पथ चल रहा है। यद्यपि पीर-बादल्ला बस्ती से दूर एकांत स्थान में स्थित है तो भी गाँव का प्रतिनिधि और आबादी का प्रथम चिन्ह होने से वह पश्चिम से आने वाले श्रांत और अज्ञात पथिक के लिए महान् आश्वासन का कारण होता है।

पीर - बादल्ला के नामकरण का कारण स्पष्ट है। उसमें बादल्ला वस्तुतः आबिदल्ला नामक किसी फक़ीर की समाधि है इसके अतिरिक्त उसमें कितने ही गाँव के नवाबों तथा उनके कुटुंबी - जनों की समाधियाँ भी हैं। अतः पीर - बादल्ला को जहाँ धार्मिकता और पवित्रता का महत्व प्राप्त है वहां दूसरी ओर उसे कुलीनता का गौरव भी मिला है।

पीर - बादल्ला बहुत विस्तृत भूमि में स्थित है। इसमें समाधियों के अतिरिक्त एक मसजिद भी है। ये समाधियाँ और मसजिद एक नीची चहार दीवारी से घिरी हुई हैं। उत्तर ओर इसका बड़ा दरवाजा है जिस पर जीर्ण - पुरातन फाटक किसी प्रकार टिका हुआ है। बाहर पूर्व की ओर एक बड़ा तालाब है और सामने उत्तर की ओर सड़क के सहारे एक कंकड़ का कुआँ और प्याऊ की कोठरी है। पीर - बादल्ला

के बाहर उसकी अधिकृत भूमि में करील, बबूल और हींस आदि के कंटीले पेड़ तथा झाड़ियां फैली हुई हैं।

पीर - बादल्ला के विषय में जन - साधारण में नाना प्रकार के प्रवाद प्रचलित हैं। वह बच्चों का भय, युवकों की उपेक्षा और वयोवृद्ध या धर्मालुओं का समादर है। कहते हैं पीर - बादल्ला प्रेत - नगरी है और वृहस्पतिवार की रात्रि को वहाँ से साहबा या प्रेतों की टोली घूमने - फिरने और आनंद मनाने लिए निकलती है। कोई कहता है कि मुराद वा अभीष्ट की सिद्धि के लिए पीर - बादल्ला सुंदर और सुगम साधन है। कोई कहता है—पीर - बादल्ला की उपेक्षा अथवा अनादर बड़ा अनिष्टकारी है। यही कारण है कि वृहस्पतिवार के दिन वहाँ कुछ न कुछ पूजा - भेंट आ ही जाती है। कोई चादर चढ़ाता है, कोई पैसे और कोई बताशे। जो अकिंचन हैं वह केवल हाथ जोड़कर और नत-मस्तक होकर ही अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करता है। कोई जाकर देखे तो उस दिन कुछ न कुछ चीजें पीर - बादल्ला की निर्जनता का प्रतिवाद करती हुई उसे वहाँ जरूर दीख पड़ेंगी!

पीर - बादल्ला का इतिहास बहुत विस्तृत और प्राचीन नहीं है। उसने कठिनाई से अभी जीवन के सौ वर्ष पार किए होंगे, किंतु देखने पर अपनी भग्नता और विकृति के कारण वह अत्यंत प्राचीन जान पड़ता है। इसका कारण कदाचित् उसके स्वामी वा संरक्षक की उपेक्षा है। माता भी जिसे अपना आधा शरीर देकर जन्म देती है उसकी देखभाल या लालन - पालन कुछ काल तक ही करती है, सदा नहीं। किंतु पीर-बादल्ला किसी से इसकी शिकायत नहीं करता। करे भी किससे? वह दीन और असहाय मानव के आगे क्या हाथ फैलाए? जो स्वयं नश्वान् है, वह पीर - बादल्ला की नश्वरता से कैसे रक्षा कर सकता है? न जाने कितने पर्यवसित मानव—जिन्हें जीवन-काल में अपनी सत्ता और अपने ऐश्वर्य - बल पर गर्व होगा, जो मनुष्य को मनुष्य न समझते होंगे, जिनके उन्मद मनोरथों के प्रचण्ड झंझावातों में न जाने कितने दुखी और दरिद्र - जनों के घर - बार उजड़ते होंगे, जिनके विलास की अतृप्त ज्वाला में कितनी ही अबलाओं का सतीत्व जल बुझकर राख होता होगा, वे आज निष्प्राण होकर पीर - बादल्ला की शांतिदायिनी गोद में त्राण पा रहे हैं। संभव है वे प्रलयांत तक यहाँ पड़े सोते रहें।

तो वह मानव जो जीवन के उस पार मृत्यु-पथ का पथिक बनकर स्वयं पीर-बादल्ला की शरण में आता है, क्या उसकी रक्षा करेगा ? जो स्वयं काल से अरक्षित है, वह पीर-बादल्ला को क्या सुरक्षित रखेगा ? न सही उसके भग्न प्राचीरों को कोई नहीं सुधारता, न सही उसके टूटे-फूटे जर्जर फाटक को कोई नहीं बनवाता, न सही कोई उसे नहीं झाड़ता-बुहारता या वहाँ एक दीपक भी नहीं जलाता। पीर-बादल्ला अपने को प्रकृति को सौंपकर जैसे निश्चिंत हो गया है। वही सर्वश्रेयस्करी अपने मनोनुकूल उसका परिपालन, संवर्द्धन और संस्करण करती है। सूर्य और चंद्रमा उसे प्रकाश प्रदान करते, समीरण झाड़ू देता और पशु-पक्षी क्रीड़ा- कलरव करते हुए उसका मनोविनोद करते हैं।

एकांत और वस्ती से दूर स्थित होने पर भी पीर-बादल्ला प्रकृति के किसी व्यापार से अनभिज्ञ नहीं रहता। जब ग्रीष्म आता है और लुएँ चलने लगती हैं तो पीर-बादल्ला समझ जाता है कि पास के खेत क्यार सूने पड़े हैं। किसान खलियानों में अपनी अन्नराशि को बटोर कर गर्व और आनंद से फूल रहा है! दूर का पथिक गर्मी और यात्रा के श्रम से व्याकुल होकर किसी सघन और शीतल वृक्ष की छाया में विश्राम कर रहा है! वणिक्- साहूकार और श्रमजीवी अपने अपने कार्य को स्थगित कर आराम करने जा रहे हैं और मां अपने बच्चों को बुलाकर घड़ी दो घड़ी सोने का अनुरोध कर रही है। जब वर्षा ऋतु आरम्भ होती है और नन्हीं-नन्हीं फुहारें पड़ने लगती हैं तो पीर-बादल्ला उन्मत्त मयूरों की ध्वनि सुनता है। आकाश में उड़ती हुई मोती जैसी उज्जवल बक-पंक्ति देखता है। पास में चारों ओर उसे कृषक खेत जोतते और बीज बोते दिखाई देते हैं। वह देखता है कि पशुओं के झुंड के झुंड जंगल में चरने आ रहे हैं और प्रसन्नता से इधर-उधर घूम रहे हैं। गृह - वाटिका और उद्यानों में वृक्षों की कोमल डालों में युवतियों के हिंडोले पड़े हैं! चंपा और चमेली के फूलों की भीनी-भीनी गंध आ रही है। चारों ओर मधुर कंठों से सावन के गीत गाये जा रहे हैं। बच्चे लट्टू और चकई घुमा रहे हैं। शरद् आता है। स्वच्छ आकाश के नीचे पीर-बादल्ला अपने चारों ओर मक्का, बाजरा, कपास और सन की खेती तैयार देखता है। वह देखता है कि किसान अपने सच्चे श्रम के सुन्दर फल को अन्न

के रूप में प्राप्त कर रहा है। शरद के उपरांत क्रमशः हेमन्त और शिशिर का आगमन होता है और पीर-बादल्ला दूर-दूर बसी हुई किसानों की झोंपड़ियों से हर्ष और कोलाहल की ध्वनि सुनता है। कोल्ह चल रहे हैं। रस निकल रहा है। गुड़ और शक्कर तैयार हो रही है। कढ़ाहों के नीचे जलने वाली आग के सहारे बैठे हुए दरिद्र और निर्वसन व्यक्ति शीत से अपनी रक्षा कर रहे हैं। पीर-बादल्ला यह भी जानता है। कि बस्ती में तथाकथित धनी वर्ग रजाई और शाल-दुशालों से आवेष्टित सुख-निद्रा में अचेत पड़ा है। ... शीत की समाप्ति पर ऋतुराज आता है। पीर-बादल्ला देखता है कि उसके प्रांगण के वृक्षों की रूखी-सूखी डालों ने सुन्दर रंग-बिरंगा परिधान धारण किया है। नाना प्रकार के फूल खिल रहे हैं। विविध पक्षी कलरव कर रहे हैं। शीतल मंद और सुगंधित वायु कोयल के मनोमुग्धकारी मधुर स्वरों को लेकर चुपचाप चला जा रहा है! वह देखता है कि चारों ओर गेंहूँ, जौ, मटर, और सरसों के खेत लहलहा रहे हैं। मटर के लाल-नीले फूल और सरसों की दूर-दूर तक विस्तृत पीलकाई निराली शोभा का सृजन कर रही है। और कृषक इस अनुपम सौंदर्यराशि पर मुग्ध हो रहा है।

पीर-बादल्ला एक तो बस्ती से एक मील दूर और दूसरे जन-साधारण की दृष्टि में अमंगल-सूचक स्थान है! अतः वह कभी इस बात की आशा नहीं कर सकता कि कोई उसे देखने आयेगा। पथिक के लिए वह कोई विश्राम-गृह नहीं। जो भी कोई वहाँ से निकलता है उसे उपेक्षा की दृष्टि से देखकर। मृत्यु के उपरांत मनुष्य को चिरशांति प्रदान करने वाले पीर-बादल्ला का मनुष्य से इतना ही संबंध है। पर उसे इसका खेद नहीं। पीर-बादल्ला सुख-दुःख, राग-द्वेष मान-अपमान आदि द्वंद्वों से ऊपर उठ चुका है। सच पूछिये तो उसे यह भी पता नहीं कि बृहस्पतिवार के दिन कोई गरीब बूढ़ा, गाँव से एक मील चलकर वहाँ आता, झाड़ू देता और समाधि पर दीपक जलाता है क्यों ?..... अंतःकरण की तुष्टि अथवा आत्मा की शांति के लिए नहीं - पेट के लिए! नन्नेखां यदि यही उसका नाम हो शरीर का पिंजर और आँखों का अंधा है। पेट की ज्वाला उसके निर्जीव शरीर को स्फूर्ति और उसकी अंधी आँखों को ज्योति प्रदान

करती है। वह लाठी टेकता हुआ किसी प्रकार इतनी दूर चला ही आता है। उसके काँपते हुए हाथ झूलते हुए टूटे-फूटे फाटक को किसी तरह खिसकाते हैं और वह पीर-बादल्ला के भीतर प्रवेश करता है। नन्ने खां को उसके पारिश्रमिक स्वरूप नवाब से पाँच रुपये मासिक मिलते हैं किंतु वह भी स्थायी या नियमित रूप से नहीं। पीर-बादल्ला को इस विवश सेवा का भी कोई आभार नहीं।

पीर-बादल्ला मनुष्य की उपेक्षा से खिन्न और सूनेपन से दुखी नहीं है। उपेक्षा कैसी? जिसे गरज होती है वह अपनी मनोकामनाओं की सिद्धि और साधों की भीख माँगने उसकी शरण में आ जाता है। जीवन के अवसान पर चिरविश्राम के लिए मनुष्य स्वयं उसका दरवाजा खटखटाता है। वह अपने सूनेपन से भी दुखी नहीं है। सूनापन है भी कहाँ? पीर-बादल्ला न जाने कितने जीव-जन्तु और पशु-पक्षियों का उपनिवेश है उसकी मजजिद की काली दीवारों में जहाँ-तहाँ कबूतरों के जोड़े बसेरा लेते हैं। उसके पेड़ों पर फाख्ता गुड़सल और चिड़ियों के घोंसले हैं। नीचे भूमि में बने बिलों में न जाने कितनी लोमड़ियां, सेहें और झाड़ियों में कितने खरगोश रहते हैं। रात्रि में जब प्राणियाँ के समस्त व्यापार स्थागित हो जाते हैं तबभी पीर-बादल्ला में जीव-जन्तुओं के घात-प्रतिघात और आखेट-लीलाएँ होती हैं। और दिन? ..... वह तो मानों जीवन, ज्योति और रमणीयता का वरदान लेकर ही उपस्थित होता है। यही है मेरे गांव का पीर-बादल्ला!

—:—

मेरठ
२७—१—४३

: ११ :

चतुर बया

विधाता की सृष्टि में जिन वस्तुओं को देखकर मनुष्य को अपने बुद्धि-कौशल की विडंबना का ज्ञान होता है उनमें एक बया का घोंसला भी है। बबूल अथवा खजूर आदि के कँटीले तथा दुर्गम वृक्षों से लटके, हवा में झूलते हुए इन सुन्दर और सुदृढ़ पक्षि - गृहों को देखकर मनुष्य चकित रह जाता है। सबसे अधिक आश्चर्य तो उसे उस समय होता है जब वह उस भव्य कला - कृति के निर्माता को साक्षात् अपनी आँखों से देखता है और चकित होकर कहता है - "ओहो! वह घोंसला और यह पक्षी!"

बया जंगल में रहने वाला मुनियाँ की जाति का छोटा - सा पक्षी है। यह अफ्रीका और दक्षिण - पूर्वी एशिया में सर्वत्र और अधिक संख्या में पाया जाता है। इसके रूप और आकार में मुनियाँ से बड़ा साम्य है। वही लगभग ५ इंच लंबाई, मटमैला रंग, स्याह चहरा और भूरे किंतु किशमिशी रंग के चित्ते वाले पर। इसकी पूंछ १ इंच, पर २. ६ इंच और चोंच .६५ इंच होती है। मुनियाँ और बया में केवल इतना ही अंतर है कि बया बसंत ऋतु के आरंभ होते ही अपना रंग बदलता है। वह पीतिमा रंजित हो जाता है। किंतु मुनियाँ सभी ऋतुओं में एक रूप रहती है। दोनों चिड़ियों में दूसरा और सूक्ष्म अंतर यह है कि बया के सिरे का पर उसके पंजे के अँगूठे की लम्बाई के बराबर होता है किंतु मुनियाँ का उससे छोटा।

प्लोसीला या सुनहरी बया की चोंच जितनी ऊँची होती है उतनी ही लम्बी होती है। चोंच के आस-पास बाल होते हैं। परों और पूँछ की लम्बाई में अँगूठे की लम्बाई से कम अंतर होता है। इसके अंडे नाना रंग के होते हैं। इस जाति में अभी तक एक ही प्रकार का बया पाया गया है जिसे सुनहरी बया कहते हैं। यह अफ्रीका के बयों से बहुत मिलता जुलता है। यह बया उत्तर बर्मा, पीगू, उत्तरी टेनासरिम, श्याम, कोचीन और जावा में पाया जाता है।

बया में नर और मादा का भेद है। मादा प्रत्येक ऋतु में समान रहती है किंतु नर जाड़े और गर्मी के अनुसार रंग बदलता है। जाड़ों में वह मादा से मिलता जुलता है किंतु गर्मी में पीले रंग का हो जाता है।

एशिया के बयों में दो प्रकार की जातियाँ पाई जाती हैं जो आकृति और निर्माण-कला दोनों में भिन्नता रखती हैं। इन दोनों के अंडों में भी अंतर होता है। इनमें एक का नाम प्लोसियस और दूसरे का प्लोसीला है। प्लोसियस जाति के बयों की विशेषता यह है कि उनकी चोंच जितनी ऊंची होती है उससे कहीं लम्बी होती है। चोंच के आस-पास बाल नहीं होते। परों और पूँछ की लम्बाई में अंगूठे की लंबाई से अधिक अन्तर होता है। इसके अंडों का रंग श्वेत होता है। इस जाति के अंतर्गत पाये जाने वाले बयों में चार उल्लेखनीय हैं देसी बया, टुकरा बया (आसाम), कंठा वाला बया (बंगाल), और तेलिया बया (बंगाल)। इनमें परस्पर जो कुछ भेद है वह अधिकांश रंग का है। किसी का सिर पीला होता है किसी का भूरा। किसी की छाती पीले रंग की होती है किसी की नारंगी-भूरे रंग की। या काली और नारंगी चित्ती वाली आदि।

बया झुंड के साथ मिलजुल कर रहने वाला पक्षी है। यही नहीं कि वह अपने सजातियों के साथ ही रह सकता हो प्रत्युत वह कुछ दूसरे पक्षियों के साथ भी शांति पूर्वक सहवास कर सकता है। जिस वृक्ष पर इसके घोंसले होते हैं उस पर मुनियाँ भी अपना घोंसला बनाकर रहती और सिरासिन बिना घोंसला के बसेरा लेती है।

बया रहने के लिए ऐसा स्थान खोजता है जहाँ उसे अपने अनुकूल सारी सुविधाएँ सुलभ हों। सुरक्षित गृह के लिए बबूल या खजूर

आदि के पेड़, घर बनाने के लिए सामग्री स्वरूप ईख, मूंज, डाभ, उसीड़ या हथिया घास और निकट कोई जलाशय। यह बिचित्र बात है कि जल - पक्षी न होते हुए भी बया जलाशयों का अत्यधिक प्रेमी है। बहुधा यह अपना घोंसला पानी के ऊपर छाए हुए वृक्षों पर बनाता है।

बसंत के प्रायः अंत में बया का नया घोंसला बनना आरंभ होता है। पुराना घोंसला - वह चाहे जितना मजबूत हो इस योग्य नहीं समझा जाता कि ग्रीष्म के झकोरे और वर्षा के तूफानों को सफलता पूर्वक सहले। ईख बोई रहती है। वह लगभग गजभर ऊँची होती है कि बया उसकी पत्ती चीरना और नया मकान खड़ा करना आरंभ कर देता है। उस काल में वह इतना व्यस्त रहता है कि उसे खाने - पीने की भी सुधि नहीं होती। इस बीच में जब तक उसका नया घोंसला बनकर तैयार नहीं हो जाता वह पुराने में ही बसेरा लेता हैं। दिन निकला नहीं कि उसका गोल अपने नियत स्थान पर आकर मकान बनाने के काम में जुट गया। उसे सदैव यह चिंता लगी रहती है कि बर्षा - काल के आरंभ होने से पूर्व उसका घर बनकर तैयार हो जाय।

मई और जून आँधी और तूफान के दिन होते हैं। कभी तो ऐसा होता है कि आरंभ किए हुए घोंसले को हवा का झोंका ही उड़ाकर ले जाता है और कभी वह टहनी जो उस घोंसले का आधार होती है सहसा टूटकर बया को दुखी और निराश कर देती है।

बया बड़े उत्साह और उल्लास से अपना घोंसला बनाता है। नियत वृक्ष पर मकान बनाने में लगे हुए बयों का दृश्य अनुपम होता है। यह एक विशेष बात है कि शांत और प्रायः मौन रहने वाला यह पक्षी उस समय असाधारण रूप से मुखरित हो जाता है। उसके मंद किंतु प्लुत स्वर से सारा जंगल गुंजायमान् हो जाता है। घोंसला बनाते समय वह अनवरत रूप से गाता है। उस समय कोई पत्ती चीरता रहता है, कोई उसे चीरकर ला रहा होता है और कोई बुनने में संलग्न होता है।

बया एक बार में दो या तीन पत्तियाँ चीरकर लाता है। पत्ती चीरने में कोई कौशल नहीं है क्यों कि ईख या मूंज की पत्तियाँ जहाँ से तोड़ी जाँय अपने आप ही सीधी चिरती चली जाती हैं। अस्तु, पत्तियाँ लाकर वह एक को लेकर बुनने लगता है और शेष पत्तियों को अलग रख देता है। घोंसला बुनने में उसकी प्रधान सहायक चोंच ही होती है। बया पक्षी में कार्य - विभाजन का भाव नहीं होता। मकान बनाने से संबंध रखने वाले प्रायः समस्त कार्य एक ही बया को करने पड़ते हैं।

बया साधारणतः जंगल में ही अपना घोंसला बनाता है। किंतु आसाम का टुकरा नामक बया देहात के झोंपड़ों में भी उसे बना लेता है। कभी कभी तो वह छानसे लटके हुए फूंसफरों में ही अपना घोंसला लटका लेता है।

बया का घोंसला बीन या मधु मक्खी के छत्ते के आकार का होता है। इसका प्रवेश-द्वार संकीर्ण और नलिका के समान होता है। द्वार के ऊपर जहां उसका वास्तविक आवास रहता है और जो अपेक्षाकृत फूला हुआ होता है, मकान दों भागों में विभाजित किया जाता है। ये भाग एक टिकानी के द्वारा किए गए होते हैं जो बया-दंपति के बैठने के लिए होती है। द्वार के विपरीत दिशा में एक ओर एक कोठरी-सी होती है जिससे बच्चों के गिरने का भय नहीं रहता। बया का घोंसला बड़ा सघन होता है। उसमें वायु, धूप अथवा वर्षा के जल का सहसा प्रवेश नहीं होता। घोंसले का आकार कुछ इंचों से लेकर दो फीट तक होता है।

बया घोंसला बनाने में ही नहीं अपितु घर की व्यवस्था में भी अपनी असाधारण बुद्धि का परिचय देता है। घोंसला तैयार हो जाने के पश्चात् उसे वर्षा की चिंता होती है क्योंकि विशेषतः इसी ऋतु को सुखपूर्वक व्यतीत करने की समस्या उसके सामने होती है। वर्षा का जल या तीक्ष्ण वायु के झोंके तो उसके घोंसले को भेदकर अंदर नहीं जा पाते किंतु उस ऋतु के घटाटोप अंधकार के लिए प्रकाश का आयोजन उसे करना होता है। इसके लिए बया अपने घोंसले में केंचुए की मिट्टी

लाकर रखता है जिसमें वर्षाकाल में चमकने का गुण होता है। इस मिट्टी—वस्तुतः मल-से ही उसका घोंसला उस काल में यत्किंचित प्रकाशित होता है।

बया मनुष्य की मनोवृति का अध्ययन करना भी खूब जानता है। अन्य प्रक्षियों की भाँति उसमें भी इष्टानिष्ट समझने की बुद्धि होती है। यदि कोई नितांत अपरिचित व्यक्ति सहसा उनके उपनिवेश में चला आए तो वे डर कर इधर उधर उड़कर चले जाएंगे। और उसके टलने की प्रतीक्षा करेंगे। यदि वे देखेंगे कि उसके शीघ्र टलने की कोई आशा नहीं और कार्य में व्याघात होता है तो वे बड़ी चतुराई से उसके मन्तव्य का पता लगाएंगे। उनमें से सबसे अधिक बुद्धिमान् बया आएगा और व्यक्ति की मुद्रा का अध्ययन करने के लिए थोड़ी देर के लिए पेड़ पर बैठेगा। बस परीक्षा के लिए यही युक्ति और इतना ही समय पर्याप्त होता है। इसके पश्चात् वह बया पुनः उड़कर अपने बंधुओं के पास जाता और अपने अनुभव की सूचना देता है।

बया का भोजन बोया हुआ बीज और उगा हुआ अन्न है। वह आस-पास उगे हुए अमरूद आदि फल भी खा लेता है। पालने वाले उसे खाने के लिए कंगनी देते हैं। यह भी संभव है कि जलाशयों का प्रेमी बया जल के छोटे-छोटे कीड़ों का भी आहार करता हो।

बया अप्रैल से लेकर सितंबर तक अंडे देती है। एक बार में दिए गए अंडों की संख्या एक या दो से अधिक नहीं होती। इनका रंग सफ़ेद होता है। कुछ बयों के अंडों का रंग भिन्न-भिन्न प्रकार का भी होता है।

मनुष्य को अपने बंधन जितने ही अप्रिय होते हैं उतने ही प्रिय दूसरे के बंधन होते हैं। यदि यह न होता तो रूपहीन, मधुर स्वरहीन, निरीह छोटे-से पक्षी बया के बंदी होने का क्या कोई कारण हो सकता था? अधिक नहीं फिर भी कुछ तो अवश्य ऐसे रसिक मिल जाते हैं जो इस सुनहरी मुकुट धारण करने वाले चतुर पक्षी को रेशम की डोरी में बाँधे बुलबुल की तरह ठेंगे पर बिठाए गर्व के साथ घूमा करते हैं। मनुष्य की निर्दयता कहीं उपयोग का, कहीं विनोद का और कहीं केवल कौतुक का व्याज लेकर आविर्भूत होती है। और संसार में ऐसी कौन सी

वस्तु है जो पराधीनता के पाश में पड़कर अपने स्वामी के किसी न किसी हित का साधन नहीं बन जाती ? फलतः बया गरीब छोटा-सा पक्षी होकर भी अपने बंधकों की जीविका का अवलंब हो जाता है। वे उसे पिंजड़ों में लिए बाज़ार-हाट, चौराहों, गली-कूचों और कचहरियों में अनजान या मूर्खों का भविष्य बतलाकर धनोपार्जन करते हुए घूमा करते हैं।

——: ——

मुजफ्फरनगर
१८-८-४३.

: १२ :

मुजफ्फ़रनगर से देवबंद

रात के नौ-सवा नौ बजे होगें। मुजफ्फ़रनगर से सहारनपुर जाने वाली ट्रेन मुझे बिठाकर निर्दिष्ट की ओर चलने लगी। उसे दो स्टेशनों को पार करते क्या देर लगती? बैठा और मानों देवबंद आ गया। टिकिट देकर प्लेटफार्म से बाहर आया। मन में अपूर्व उत्साह था। आज उसकी प्रायः एक वर्ष की अभिलाषा पूर्ण हो रही थी। चंद्रमा उदित था। चारों ओर चाँदनी छिटकी हुई थी। रात्रि की निस्तब्धता को भंग करने वाली कुत्तों की आवाजें रह-रह कर बस्ती की ओर से आ रही थीं। पास ही ताँगे वाले "आइये बाबू जी" "इधर चले आइये सेठ जी" और "बैठिये सरकार" की रट लगा रहे थे। मैंने देखा कि मैं उस शान्ति और कोलाहल से भरे विचित्र वातावरण में एक कंबल एक चादर और आवश्यक कागज-पत्रों से पूर्ण एक झोला लिए नितांत अपरिचित और अदृष्टपूर्व भूमि में एकाकी खड़ा था।

अस्तु, ताँगे में बैठ कर थोड़ी ही देर में शहर में आ गया और धर्मशाला, जिसका पता मैंने स्टेशन पर ही लगा लिया था, का दरवाजा खटखटाया। दरवाजा खुला और मैं अन्दर चला गया। धर्मशाला अच्छी थी, पक्की और काफी लम्बी-चौड़ी। ऊंची कुर्सी और - मजबूत फाटक। तात्पर्य यह है कि वहाँ पहुँचकर वास्तव में मुझे बड़ा संतोष हुआ, किंतु वह संतोष अधिक समय तक स्थिर न रह सका। उसका स्वामी या कहना चाहिए संरक्षक मनुष्य था या कुछ और, कहा नहीं जा सकता।

मुझे आश्चर्य हुआ कि इतनी बड़ी और सुन्दर धर्मशाला, किंतु यात्रियों के सोने या आराम करने के लिए वहां न कोई खाट थी और न कोई तख्त बिछा था। पूछा तो मालूम हुआ कि खाट किराए पर मिल सकती है। कहने पर खाट आ गई और थका मांदा होने के कारण मैं शीघ्र ही उस पर लेटकर सोने की तैयारी करने लगा। सहसा एक ओर से आवाज़ आई — "पैसे !"

मैंने चौंककर देखा ब्राह्मण खड़ा था और खाट के किराए के दो आने पैसे माँग रहा था। मुझे उसकी उतावली और बेसब्री पर बड़ा आश्चर्य और खेद हुआ। मैंने कहा —"जाओ, पैसे सुबह होने पर ले लेना।"

"जी नहीं पैसे तो अभी दे दें।"

"आखिर क्या मुसीबत है! सुबह तक तो हूँ ही! कहीं भागा थोड़ा ही जाता हूँ?" मैंने तिनक कर कहा।

"साहब, सुबह कौन लखेगा दो आने पैसे के लिए," ब्राह्मण बोला।

जैसे किसी ने मेरे स्वाभिमान पर चोट की हो। मैं मर्माहत हो गया। दो आने पैसे? जैसे दो आने पैसों का उसकी दृष्टि में कोई मूल्य ही न था। और फिर भी उन्हीं दो आने पैसों के लिए मुझे लखेगा भी। दरिद्र पाषाण कहीं का। ख खिन्न हो कर बोला—"ओ हो इन पैसों के लिए आपको मेरे ऊपर पहरा देना होगा? दयानिधान यह रही खाट। इसे ले जाइये और अपनी रात की नींद खराब न कीजिए।"

खाट चली गई, और मैं वहीं पक्के फर्श पर बिना कुछ बिछाये कंबल और चादर लपेट कर सो गया। हारा-थका होने पर भी विचारों के आवेग में गहरी नींद न आ सकी।

जैसे-तैसे सुबह हुआ और मैं अपना बिस्तर-बोरिया लेकर नित्य कर्म से निवृत होने जंगल की ओर चल दिया। कठिनाई से दस-बीस कदम चला हूँगा कि मुझे थोड़ी दूर पर बाँई ओर एक तालाब दीख पड़ा। मैं उसी ओर चल पड़ा। कितना रमणीक दृश्य था। सामने हिलोरें लेता हुआ तालाब। एक ओर लता-वृक्षादि से आच्छादित ऊँचा टीला और दूसरी ओर हरियाली से लहलहाते हुए खेत। सरसों के सजीले स्वर्णिम पुष्पों से हठात् सौरभ का दान लेता हुआ वासंती पवन

उन्मादी हो चला था। कोयल कूक रही थी। अन्य पक्षियों में भी धीरे-धीरे सजगता का संचार हो रहा था। और वह प्राची का अरुणोदय अपने रहस्यमय आकर्षण से जल को स्पर्श कर चटुल मछलियों को और भी अधिक चंचल बना रहा था।

मैं यह सब कुछ देखकर आत्म-विस्मृत हो गया। इससे अधिक रमणीय दृश्य मैंने अपने जीवन में कभी न देखा था। मुझे ऐसा प्रतीत हुआ मानो गत रात्रि का कष्ट स्वप्न बनकर धीरे-धीरे स्मृति-पटल से हट रहा हो!

तालाब के किनारे एक पुलिया थी। मैं उसी पर कंबल बिछाकर बैठ गया। बड़ी देर बैठा रहा। सूर्य अच्छी तरह निकल आया। कृषक खेतों में काम करते दीख पड़े और बस्ती का कोलाहल भी पूर्ण हो गया किंतु मेरी चेतना न जगी। मुझे कुछ भी ध्यान न आया कि मैं देवबंद क्यों आया हूँ, मुझे कहाँ जाना है और क्या करना है। मैं उस प्राकृतिक दृश्य के निरीक्षण में तल्लीन था। देख रहा था वह टीला—लता-द्रुमों से आच्छादित, और वह सरोवर जो वायु के संस्पर्श से हिलोरें ले रहा था और जिसमें से छोटी छोटी सुन्दर मछलियाँ बार-बार ऊपर उछलकर नव-रश्मियों का चुंबन कर रही थीं। वह टिटहरी जो टी-टीटरी करती वातावरण की शान्ति में बाधा डालती थी, वह बकदंपति जो किसी अभीष्ट की सिद्धि के निमित्त मौन और अचंचल-साधना में निरत थी, हरे-भरे लहलहाते खेत और पास ही बेरियों से रह-रहकर सुनाई पड़ने वाला एहो एहो-हो शब्द। उसी समय लो! जैसे स्मृति ने मुझे सचेत करते हुए कहा हो—यह अभूत-पूर्व नहीं। कहीं अन्यत्र भी ऐसा कुछ देखा है। याद करो सुदूर काली नदी के कछार में बसा हुआ तुम्हारा छोटा-सा प्यारा-सा गाँव... पश्चिम ओर पंजाए की पोखर...पास का वह ऊंचा टीला...दूर-दूर तक विस्तृत हरे-भरे खेत...निराले मधुर शब्द करते हुए पक्षी और नयनाभिराम सूर्योदय।...मेरी तन्मयता सहसा भंग हो गई। क्षण भर के लिए वह बाह्य दृश्य मेरी दृष्टि से ओझल हो गया। स्मृति ने अतीत की आवृति की और मैंने सिर झुकाकर चुपके से कहा—"हाँ।"

तन्मयता भंग हो गई। तिरस्कार करते हुए जैसे हृदय ने मुझसे कहा हो—पागल—तुम यहीं बैठने के लिए देवबंद आए हो? मैंने

सिर उठाया और देखा कि उस तालाब के किनारे—जहाँ अब तक मैं अकेला ही था—या समझता था—एक भिखारी बैठा हुआ लोटा माँज रहा है। मैंने उससे पूछा—"बाबा कहाँ से आ रहे हो" ?

भिक्षु ने लोटा माँजना छोड़कर उत्सुकता से मेरी ओर देखा। उसका काला कंबल फटा पुराना केवल शिर से खिसक कर स्कंध-देश पर आ गिरा। घनी और अस्त-व्यस्त, पिंगल केश - राशि वायु के अज्ञात संकेतों से इधर - उधर होने लगी। उसकी आँखों में दीनता थी। नम्रता से बोला - "आ कहाँ से रहे हैं नारायण, ऐसे ही रमते डोलते हैं।"

अस्तु, हम दोनों ने संक्षेप में अपना - अपना परिचय दिया। वह ब्राह्मण, ब्रह्मचारी, और साधु था। किसी संप्रदाय विशेष में दीक्षित नहीं - केवल माँगने और पेट भरने वाला भिक्षु मात्र। और मैं ?...मैं क्या था, यह तो उसी से कहने की बात रही !

भिक्षु देवबंद से भली भांति परिचित था। मैंने उससे वहाँ के दर्शनीय स्थानों का पता लगाया और शीघ्र ही अपना कार्यक्रम निश्चित कर लिया।

तदनुसार सबसे पहले मैं थोड़ी दूर पर स्थित देवी के मंदिर की ओर गया। कितना भव्य और रमणीक स्थान था ! निकट ही पक्का तालाब, संस्कृत विद्यालय और दो - चार शिवाले थे। स्नानादि से निवृत होकर मैंने बड़ी श्रद्धा से मां के दर्शन किए। वरदा मां उच्च वेदी पर स्थित सिंह पर विराजमान् थीं। हाथों में खड्ग, गदा, चाप और त्रिसूलादि आयुध सुशोभित थे। द्वार पर कालभैरव प्रहरी की भाँति स्थित थे। निदान उस स्थान का संपूर्ण वातावरण भगवती की महिमा से मंडित सा जान पड़ता था। मैं क्षणभर तक उसकी दिव्य और मनोमोहिनी मूर्ति को अपलक देखता रहा। पूछने पर ज्ञात हुआ कि चैत्र शुक्ल चतुर्दशी को जिसे चमार-चौदस कहते हैं वहाँ एक बड़ा मेला लगता है। पहले यहाँ बकरों की बलि भी दी जाती थी जो आजकल बंद है।

देवी के मंदिर से लौटकर मैं श्री रंगी लाल जी के मंदिर आया जो इस यात्रा का प्रमुख लक्ष्य था। देवबंद को श्री राधा - वल्लभ वैष्णव संप्रदाय के संस्थापक महाप्रभु श्री हित हरवंश जी की जन्म-भूमि होने

का गौरव प्राप्त है। यहीं श्री आचार्यपाद द्वारा प्रथम पूजित श्री रंगी लाल जी विराजते हैं। अतः यह उक्त संप्रदाय का सबसे प्राचीन और आदि मंदिर है। श्री आचार्य जी के पूर्वजों का मकान गिरी-पड़ी दशा में अब भी वर्तमान है उसके पिछवाड़े का बहुत - सा भाग नष्ट हो गया है। अंदर की दीवारें ढह चली हैं। मकान छोटी ककैया ईंटों का बना है। देवबंद की यह विशेषता है। यहाँ के मकानों देखकर निश्चित रूप से जान पड़ता है कि यह अत्ययंत प्राचीन को बस्ती है और किसी काल में धन-धान्य से परिपूर्ण रही होगी।

अस्तु, यहाँ आकर सर्वप्रथम मैंने श्री युगल मूर्ति के दर्शन किए। न जाने कितने संचित पुण्यों का सौभाग्य उस दिन अनायास प्राप्त हुआ। उस अप्रतिम और लोकोत्तर रूपमाधुर्य को देखकर मन ही मन गुन-गुनाने लगा :—

ब्रज नव तरुनि कदंब मुकुट-मणि स्यामा आज बनी।
नख सिख लौं अंग-अंग माधुरी, मोहे स्याम धनी॥
यों राजत कबरी गूथित कच, कनक कंज वदनी।
चिकुर चंद्रकनि बीच अर्ध विधु मानों ग्रथित फनी॥
सौभग रस सिर बहत पनारी, पिय सीमंत ठनी।
भृकुटि काम कोदंड नैन शर, कज्वल रेख अनी॥
भाल तिलक तांटंक गंड पर, नासा जलज मनी।
दसन कुंद सरसाधर पल्लव, प्रीतम मन समनी॥
हित हरिवंश प्रशंसित स्यामा, कीरति विशद घनी।
गावत श्रवननि सुनत सुखाकर, विश्व दुरति दवनी॥

इतने में ही राज - भोग का समय हो गया। आरती हुई और भोग लगा। तदुपरांत मैंने प्रसाद पाया और आराम करने के लिए बैठक में चला गया। उठा तो गोस्वामी श्री ब्रजवासीलाल जी से महाप्रभु श्री हित हरि वंश जी के विषय में चर्चा हुई। प्राचीन हस्त - लिखित कतिपय ग्रंथ भी देखे। श्री हित - चौरासी, राधा - सुधानिधि तथा सेवक - बानी का स्मरण मुझे अब भी है। इस कार्य में धीरे-धीरे तीन बज गये। साढ़े चार बजे मुझे गाड़ी से लौटना भी था और इसी बीच में मुझे वहाँ का प्रसिद्ध अरबी कालिज भी देखना था। अतः मैं उसी समय वहाँ से चल लिया।

मार्ग में सरसटा मुहल्ले में पहले जुमा मसजिद मिली। यह बड़ी विशाल और भव्य इमारत थी। उसके पवित्र अंतःकक्ष, विस्तृत उपासना - वेदी और नीलाभ स्वच्छ सरोवर सचमुच शांति और शोभा के आगार थे। आगे थोड़ी दूर पर दीवान मिला। यह किसी प्राचीन मुगल - कालीन इमारत का ध्वंसावशेष है जिसका अब केवल दरवाजा ही दरवाजा शेष रह गया है।

अंत में सुप्रसिद्ध अरबी कालिज आया। वहाँ के तत्कालीन कार्यवाहक प्रधानाचार्य श्री मौलवी तैयब साहब ने बड़े स्नेह से मेरा स्वागत किया और मेरे साथ एक आदमी कर दिया जिसने मुझे कालिज की दर्शनीय सभी चीजें दिखलाई। कालिज के सुविस्तृत कक्ष विशाल पुस्तकालय, सुन्दर छात्रावास और मसजिद सभी उत्तम और आकर्षक थे किन्तु सबसे अधिक प्रभाव डालने वाला था वहाँ के विद्यार्थियों का अपूर्व अनुशासन तथा कालिज का अत्यन्त शांत वातावरण। ऐसा प्रतीत होता था मानों मैं सचमुच प्राचीन सभ्यता से मर्यादित किसी विद्यालय में पहुँच गया था।

कालिज देखते-देखते गाड़ी का समय हो गया। ताँगे पर सवार होकर मैं शीघ्र स्टेशन आया। टिकिट लिया ही था कि गाड़ी शोर करती हुई प्लेटफार्म पर आकर खड़ी हो गई। दौड़कर बैठा और लगभग छः बजे तक मुजफ्फरनगर लौट आया।

—:—

मुजफ्फरनगर,
२२—२—४३।

: १२ :

एष पंथा

"संसार अनादि है। अविद्या और तृष्णा से संचालित भटकते हुए प्राणियों के आरंभ का पता नहीं चलता", फिर अंत की कौन कहे ? बात यह नहीं कि मनुष्य ने अपने विषय में सोचा न हो। बहुत सोचा है, किंतु उसने जितना ही सोचा, रहस्य उतना ही गूढ़तर हो गया। वह अपने लिए एक ऐसी पहेली बन गया जो कभी सुलझ ही नहीं सकती। वह कौन है, कहाँ से आया है और उसका अंत क्या है, इन प्रश्नों का कोई उत्तर उसे नहीं मिलता। हाँ, अपने अनुभव से उसे यह अवश्य ज्ञात हो जाता है कि वह इस संसार में दुःखों के आवर्त्त में है और उससे मुक्त होकर सुख की ओर अग्रसर होना उसका प्रमुख कर्तव्य है।

"दो ही चीजें भिक्षुओ, मैं सिखाता हूँ —
दुःख और दुःख से मुक्ति।" भगवान् बुद्धदेव

किंतु इस दुःख से मुक्त होने के लिए वह किसकी शरण में जाये और किस मार्ग का अनुसरण करे ? चिरंतन सत्य क्या है, वह कौन सा धर्म है जो देश और काल से अतीत है ? उसकी साधना व्यक्तिगत है अथवा सामूहिक ? वह कौन सा सुख है जो उस साधना के फलस्वरूप उपलब्ध होता है ? उस सुख का संबंध हमारे बाह्य जगत से है अथवा अंतर्जगत से ? इन प्रश्नों का समुचित समाधान न कोई कर सकता है, और न किसी ने किया है। आत्म - जिज्ञासाओं का उत्तर आत्मा

के अतिरिक्त अन्य कौन दे सकता है! इसीलिए बुद्धदेव ने अपने प्रिय शिष्य आनंद से एक बार कहा था:—

"इसी लिए हे आनंद, तुम अपने लिए दीपक बनो। तुम अपने लिए आश्रय स्थान बनो। सत्य और धर्म तुम्हारे दीपक हैं इन्हीं को आश्रय जानकर दृढ़ रहो। अपने सिवा किसी के आश्रय की इच्छा न करो। अतः आत्मा ही एक ऐसी चीज़ है जो हमारा पथ-प्रदर्शन कर सकती है। वही हमें ज्ञान रूपी प्रकाश प्रदान करके सच्चे सुख और सच्ची शांति की उपलिब्ध कराने की क्षमता रखती है। वही उस आनंद का भंडार है जिसे लोकोत्तर या अनिर्वचनीय कहा जाता है, और इतना ही क्यों, वही कदाचित् वह शक्ति है जिसे ईश्वर वा परमात्मा आदि अनेक नामों से पुकारा जाता है।

"एको वशी सर्व भूतान्तरात्मा एकं रूपं बहुधा यः करोति।"
—कठोपनिषद्॥

इसका अर्थ यह हुआ कि आदर्श जीवन सुख और शांति का पर्याय है और उसकी साधना के निमित्त हमें अपनी आत्मा का अनुसरण करना चाहिए। आत्मा ही सद्धर्म का आगार और विवेक का भंडार है। मनुष्य के अधिकार में जितनी वस्तुएँ हैं उन सबमें वह सबसे अधिक मूल्यवान् है। उसकी प्राप्ति पर धर्मार्थकाम रूप त्रिवर्ग की प्राप्ति अनायास हो जाती है। सुख का सागर लहराने लगता है। चित्त अपूर्व शांति का अनुभव करता है। किंतु जब तक आत्मा की प्राप्ति नहीं होती तब तक संसार की समस्त विभूतियाँ का स्वामी होकर भी मनुष्य अकिंचन होता हैं। किसी भी वस्तु से उसे सुख प्राप्त नहीं होता वह सुख के लिए उसी प्रकार भटकता हैं जिस प्रकार मरीचिका की ओर दौड़ने वाला अनजान मृग। कठोपनिषद् में सांसारिक सुख और वैभव की व्यर्थता का बड़ा ही मार्मिक और सुन्दर वर्णन है। धन-धान्य, सत्ता, स्वामित्व, सेवक और स्त्री-सुख आदिक नाना प्रकार के प्रलोभनों को दूर फेंक कर ऋषिकुमार नचिकेता यमराज से कहता है :—

"अपि सर्वं जीवितमल्पमेव तवैव, वाहास्तव नृत्य गीते।"
—कठोपनिषद्॥

अर्थात जीवन अल्प है। सब कुछ होने पर भी अंत में तो मनुष्य मृत्यु का ही वाहन होता है। नाचना-गाना वस्तुतः मृत्यु का ही सार्थक है, मनुष्य का नहीं। निदान यह सोचकर नचिकेता ने लौकिक-सुख का परित्याग कर ब्रह्म-ज्ञान को अपना लक्ष्य बनाया था। श्रेयस् की प्राप्ति के निमित्त वही आवश्यक था।

अधिकांश लोगों की यह धारणा है कि धर्म वैयक्तिक साधना है, वास्तविक संसार से उसका विशेष संबंध नहीं। और जो लोग उससे चिपटे रहते हैं उनका सांसारिक जीवन बड़ा दुःखमय होता है। ऊपरी दृष्टि से देखने पर इस कथन में किंचित तथ्य का आभास दिखलाई देता है, किंतु गंभीरतापूर्वक विचार करने पर अचिरात् इस आशंका का अंत हो जाता है। ऐसी भ्रांति उस समय होती है जब मानव-जीवन को अनादि और अनंत न मानकर देश और काल से बद्ध स्वीकार कर लिया जाता है। किंतु यह ठीक नहीं है। मानव-जीवन की परिधि अत्यंत विस्तृत है। और उसी शाश्वत जीवन के साथ कर्म और भोग की अक्षुण्ण परंपरा निरंतर प्रवहमान रहती है। मृत्यु इसी जीवन का एक विक्षेप किंवा विवर्त्तन मात्र है। जब ऐसी बात है तो धर्म का परिणाम दुःख कैसे हो सकता है! दुःख, संताप वा आपदाओं की प्राप्ति तो निस्संदेह अधर्म से होती है। इसके अतिरिक्त धर्म कदापि वैयक्तिक साधना नहीं, वह समाज का ध्येय है। व्यक्ति का धर्म ही क्या और उसके लिए साधना की आवश्यकता कैसी? समाज के नियमन और रक्षा के लिए ही धर्म की सबसे बड़ी आवश्यकता है। धर्म का पालन दूसरे के सुख और शांति की रक्षा के द्वारा सर्वोत्तम रूप में होता है। जो दूसरों के सुख-दुःख से उदासीन है अथवा उसकी उपेक्षा करता है वह अपने सुख और शांति की प्राप्ति किस प्रकार कर सकता है? यही उदारता या विशाल-हृदयता मनुष्य को आत्म-संयम का पाठ पढ़ाती है।

अस्तु: पर-सेवा और पर-उपकार का व्रत लेकर मनुष्य उस स्वर्ग की ओर अग्रसर होता है जो स्वतः उसके अंतस् में वर्तमान् है। यह सत्य है कि यदि पुष्प अपनी सुरभि का दान न करें, नदियाँ अपने अमृतोपम शीतल जल का आस्वादन न कराएँ, वृक्ष अपने ही लिए फलें-फूलें और इसी प्रकार मनुष्य भी केवल अपने ही लिए जिएं और अपने ही लिए मरें तो यह पृथ्वी कदापि रहने योग्य न रह जाय। रहने

योग्य तो यह इसीलिए है कि अनेक उदार-चरितों ने इसे अपनी तपस्या और त्याग से स्वर्गोपम बना दिया है। अनेक युगों में अवतीर्ण होकर उन्होंने अपने महान् व्यक्तित्व के द्वारा इस धराधाम पर जीवन के आदर्श की स्थापना की, और यह चरितार्थ करके दिखला दिया कि सबका जीवन ही उनका जीवन, सबका सुख ही उनका सुख और सबकी इच्छा ही उनकी इच्छा है। लोक-हित के लिए अपनत्व की बलि देकर मानों वे जीवित ही किसी ऐसे स्वर्ग का उपभोग करते हैं जो कल्पित स्वर्ग से अधिक आदर्श और कहीं अधिक आकर्षक होता है!

इच्छाओं की कोई इति नहीं, न उनका कहीं अंत है। उनके माया-जाल में जीवन का आदर्श - उसका चिरंतन लक्ष्य, स्वप्न बनकर उड़ जाता है। जिस परिणाम के लिए वह व्यग्र रहता है वह सदैव छलना बनकर उसकी आँखों के सामने नाचता है। वह उसके लिए काषाय वस्त्र और दंड धारण करता है, पर्वतों पर भटकता है, वनों को सेता है और मरुस्थलों की धूलि फाँकता है। किंतु, आत्म-सुख की प्राप्ति की वह जितनी ही चेष्टा करता है, वह सुख उतना ही उससे दूरतर होता जाता है। अंत में जब उसे पता चलता है कि सबका सुख ही उसका सुख है, सबका मंगल ही उसका मंगल है तो वह लोक-सुख और लोक-मंगल के विधान में रत होता है—जीवन के सच्चे आदर्श को प्राप्त करता है। ईसाइयों के परम मान्य ग्रंथ "जीवन-सूत्र" में कितना अच्छा कहा है :—

"वत्स, दूसरों के लिए तुझे अपना सर्वस्व दान करना आवश्यक है। तू याद रख कि तेरा अपना कुछ नहीं है।... आत्म-त्याग के बिना कभी आत्मिक शांति नहीं मिल सकती। इसलिए तू पूरी तरह आत्म-विसर्जन कर। बदले में कुछ पाने की इच्छा न कर। .. यदि तेरा हृदय सरल एवं पवित्र हो तो संसार का प्रत्येक प्राणी तेरे लिए जीवन का आदर्श और पवित्र ग्रंथ के सदृश अनुभव होगा। संसार की कोई वस्तु इतनी क्षुद्र और अपदार्थ नहीं है कि उसमें परमेश्वर की विभूति वर्तमान् न हो!"

मुजफ्फरनगर —:—
अप्रैल १९४६।

: १४ :

दीपक-देवता की आत्म-कहानी

मेरा नाम दीपक देवता है। लोक को रात्रि के अंधकार से मुक्त करने के लिए मेरी सृष्टि हुई है। मैं यह तो नहीं जानता कि मेरा जन्म किस देश और किस काल में हुआ, परन्तु इतना निश्चय है कि मैं अत्यन्त प्राचीन हूँ और अनादि काल से इसी प्रकार मनुष्य-जाति की सेवा कर रहा हूँ! प्रजापति मेरा जन्मदाता है। मुझे उत्पन्न करने में भी उसे पंच-भूतों की अपेक्षा हुई है। मिट्टी और जल के संयोग से उसने मेरा निर्माण किया, वायु से मुझे सुखाया, अग्नि से तपाया और आकाश से मेरी स्थिति निर्धारित की। तत्पश्चात् किसान धुनियाँ और तेली आदि ने परस्पर सहयोग देकर मेरे उपादान जुटाये। सुशील और सुकुमार गृहिणी ने अपने कोमल हाथों से मुझमें चेतनता का संचार किया। और लो, मैं प्रकाशमान् हो गया!

यों तो अंधकार को दूर करने के लिए प्राकृतिक साधन भी उपलब्ध हैं, परन्तु वे पर्याप्त नहीं। दुनियाँ जानती है कि चंद्रमा क्षयी और तारे क्षीण-प्रभ हैं। उनमें अंधकार विनष्ट करने का सामर्थ्य नहीं। फिर चंद्रमा और तारों का सहारा भी सदैव नहीं मिलता। ग्रीष्म की रेतीली आँधियाँ और सावन-भादों की घटाएँ जब आकाश को आच्छन्न कर लेती हैं, तब इनका वह स्वल्प प्रकाश भी लभ्य नहीं होता। संपूर्ण जगत घोर अंधकार मे डूब जाता है। हाथ को हाथ नहीं सूझता। कहीं उल्लू बोलते हैं, कहीं गीदड़ रोते हैं,

कभी दूर किसी स्मशान में भयावह उल्का दृष्टिगोचर होती है। इस प्रकार अनेक विभीषिकाएँ उत्पन्न होकर जब मनुष्य के हृदय को भीत और त्रस्त बनाती हैं तब मैं ही आकर उन्हें अभयदान देता हूँ।

मैं मिट्टी का तो होता ही हूँ सोने और मणियों का भी होता हूँ। लोगों की स्थिति के अनुसार मेरे सामान्य और असामान्य दोनों रूप होते हैं। ग़रीब मुझे एक पैसे में बहुत-से खरीद लेता है और धनी-धोरी मुझ एक के लिए कितना ही व्यय कर देता है। स्त्रियाँ पूजा के लिऐ कभी-कभी मुझे आटे का बनाकर भी काम में लातीं हैं। जो हो परन्तु इससे मेरे मन में भेद-भाव कभी उत्पन्न नहीं होता। मैं सभी को समान ज्योति और समान प्रकाश प्रदान करता हूँ।

आज मनुष्य ने प्रकाश के अगणित साधन उत्पन्न कर लिए हैं। इनमें साधारण व्यवहार में आने वाली लालटेन मुख्य है। उपयोगी होने के कारण इसका प्रचार अत्यन्त व्यापक है। वह गरीब अमीर, ग्रामीण और नागरिक प्रायः सभी के पास देखी जाती है। आँधी और तूफान में भी प्रकाश को निश्चल और निर्विघ्न रखने के लिए मनुष्य ने इसका आविष्कार किया है। इसमें मिट्टी का तेल जलता है। लैंप, झाड़ और फाँनूस आदि भी इसी जाति के हैं। समान-धर्मा होने के कारण हम लोग परस्पर घनिष्ट संबंधी हैं।

प्रकाश के साधनों में इस युग की सबसे अद्भुत और अपूर्व वस्तु विद्युत है। इसे मनुष्य ने जल और कोयले से उत्पन्न किया है। इसे वह बड़ी सावधानी से ताँबे के तारों पर दौड़ता है। बटन दबाया नहीं कि शीशे की वत्तियों से जिन्हें वल्ब कहते हैं, निर्मल प्रकाश फूट निकला। यह प्रकाश इतना तीव्र होता है कि आँखों में चकाचौंध हो जाती है। यही नहीं, आज कल तो इस शक्ति से और भी कितने ही काम होते हैं जैसे पंखा चलाना, मशीनें चलाना, ठंड दूर करना और खाना पकाना आदि। और तो क्या, मनुष्य के मनोरंजन की साधन भी यही शक्ति है। इसी की सहायता से रेडियो और फिल्मादि उसे अपना चमत्कार दिखाते हैं।

जो हो, परन्तु प्राचीन और अभिजात कुल का अवशेष मैं ही हूँ। पूजा प्रभृति मंगल कार्यों में लोग मुझे ही स्मरण करते हैं। मैं

घी, प्रकाश और धूपदान लेकर उनके देवता के चरणों में उपस्थित होता हूँ। मेरा बड़प्पन रखने के लिए देवता उन पर प्रसन्न होता है, और उनकी मनोकामना पूरी करता है।

यद्यपि मैं इसी लोक की वस्तु हूँ, तथापि मेरी महिमा अनंत है। लोग मेरा बड़ा आदर करते हैं। संध्या होने पर घर-घर में मेरा आह्वान होता है। लोग संध्या-काल में मेरी अनुपस्थिति में भोजन करना पाप समझते हैं। दूकानदार मुझे जलाकर, घी,-गुण आदि का नैवेद्य अर्पित कर नमस्कार करके अपने क्रय-विक्रय में संलग्न होता है। पुजारी घंटा-घड़ियाल ले मुझे सँभाले मंदिर की ओर चल देता है।

प्रकाश के वर्तमान युग में मेरा महत्व और भी बढ़ गया है। पैदल की बात नहीं, किसी सवारी पर बैठकर लोग मेरे बिना रात्रि में राजमार्ग पर नहीं चल सकते। चाहे इक्का हो या ताँगा, ठेला हो या गाड़ी, मोटर हो या रिक्शा, तात्पर्य यह कि कुछ क्यों न हो सब मुझे साथ रखने के लिए बाध्य हैं। ऐसा न करने पर वे राज्य की ओर से दंड के भागी होंगे।

मैं कर्मयोगी हूँ। शक्ति रहते अंत तक अपने कर्तव्य-पालन में दृढ़ रहना कोई मुझसे सीखे। तेल निबट जाय, परंतु अंतिम क्षण तक जलते जाना मेरे जीवन का परम आदर्श है। बुझते-बुझते भी मैं एक बार टिमकता हूँ। इसीलिए मुझे भगवान् से तेज और प्रकाश का वरदान मिला है!

संसार में आज तक जितने भी मनीषी, विद्वान् और लेखक हुए हैं सब मेरे ही प्रसाद से। उन्हें मुझसे अत्यधिक प्रेम था। भौतिक चिंता और श्रम से ऊबकर जब सारा संसार निद्रादेवी की शरण लेता तब वे मेरे निकट बैठ कर योगी के समान निश्चल और एकाग्रचित हो अपनी साधना में लीन हो जाते। तुलसी, देव, बिहारी, प्रसाद, प्रेमचंद और शुक्ल आदि सब मेरी ही देन हैं। इस प्रकार मनुष्य जाति पर मेरा भारी ऋण है।

स्वर्णकार मेरी सहायता से सुंदर आभूषण बनाता है। यह कंगन है, यह शीशफूल है, यह हार है। ये मूर्तिमान् मोहन और वशीकरण मेरी ही कृपा से प्राप्य हैं!

छोटी-छोटी लड़कियाँ और बच्चे जहाँ-तहाँ से चूड़ियों के टुकड़े उठा लाते हैं और उन्हें मेरी शिखा पर तपाकर अपनी गुड़ियों के बुंदे और कुत्ते-बिल्ली की जंजीर बनाते हैं।

बच्चे मेरे साथ और भी अनेक प्रकार के कौतुक करते हैं। वे बाजार से जहाज खरीद लाते हैं और उसके भीतर सावधानी से मुझे रख देते हैं। बस उनका जहाज पानी पर चलने लगता है। दीपावली के दिन वे मुझे कंडील में रखकर बहुत ऊपर आकाश में पहुँचा देते हैं। उसी दिन वे शिकारगाह तैयार करते हैं और मुझे जलाकर यत्न से उसके अंदर रख देते हैं। मेरे प्रभाव से उस जड़ वस्तु में भी गति उत्पन्न हो जाती है। बस उनके घोड़े, ऊंट, हाथी मेम साहब और सिपाही दौड़ लगाने लगते हैं। बच्चे इस खेल से बड़े प्रसन्न होते हैं।

मेरे धूम्र को इकट्ठा करके मां अपने बच्चों के लिए काजल बनाती है। सुबह जब वे उठते हैं तो वह उन्हें न्हिलाती-धुलाती और आँखों में काजल लगाती है। वह उनके माथे पर दिठौना भी लगाती है जिससे उसके बच्चे पराई ईर्ष्या-द्वेष भरी कुटिल आँखों से बचे रहते हैं।

मैं भूत-प्रेत, कीड़े-मकोड़े और बिच्छू आदि का निवारक हूँ। जहां मैं रहता हूँ वहाँ इन सबका भय नहीं रहता। मैं भूले-भटके को राह दिखाता हूँ। मनुष्य के हृदय में श्रद्धा-भक्ति का उदय कर उसके परलोक-मार्ग को प्रकाशित करता हूँ। इसीलिए मुझे पूजा के षोडषोपचार में गौरवपूर्ण स्थान मिला है। स्त्रियाँ मेरे द्वारा अश्वत्थ की पूजा करके अभीष्ट-लाभ करतीं हैं। साध्वी और पतिव्रता स्त्रियाँ अपने सुहाग को अचल बनाने के लिए मुझे गंगा में विसर्जित करने जाती हैं छोटी और सुकुमार लहरें अठखेलियाँ करती हुई जब मुझे स्नेह से लेकर आगे बढ़ती हैं तो वह दृश्य वास्तव में देखने के योग्य होता है। सबसे अधिक सम्मान मुझे दीपावली के दिन प्राप्त होता है। उस दिन भारतवासी बड़े समारोह से लक्ष्मी का पूजन करते हैं। उनके देवालय, उनके घर, उनके तालाब, उनके कुंए, उनके बाजार-हाट मेरी ज्योति से जगमगा उठते हैं। पंक्तिबद्ध प्रकाश ऐसा प्रतीत होता है मानों असंख्य तारागण भूमि पर उपस्थित होकर अपना उज्ज्वल प्रकाश फैला रहे हों। उस दिन आकाश का वैभव भी मेरे आगे तुच्छ प्रतीत

होता है। रात्रि का एक पहर बीतने पर लक्ष्मी का पूजन होता है। चारों ओर चाँदी-सोने के सिक्कों के खनखनाने की आवाज आती है। बच्चों की प्रसन्नता का ठिकाना नहीं होता। वे अपनी मां से खील-बताशे लेकर खाते हैं। थोड़ी देर बाद जब सब निवृत होकर सो जाते हैं तो मैं उनका प्रहरी बना रातभर जागा करता हूँ।

मेरा एक काम और भी है। मैं एक ओर तो राह दिखाता हूँ, दूसरी ओर गुमराह भी करता हूँ। कभी-कभी मैं माया का मिथ्या रूप धारण करके राहगीरों को बड़ा नाच नचाता हूँ। वे जिधर जाते हैं उन्हें प्रकाश का एक मिथ्या आभास दिखाई पड़ता है। और बस वे मार्ग भूल जाते हैं। कभी इधर जाते हैं, कभी उधर। शक्ति रहते मेरी मरीचिका का अनुसरण जारी रहता है। यहाँ तक कि इसी प्रकार भटकते-भटकते अभागों की रात बीत जाती हैं। अस्तु, यह मेरा कभी-कभी का विनोद हैं, नित्य का नहीं। लोग मेरे इस माया रूप को परी का दीया कहते हैं।

मुझे इस बात का बड़ा दुःख है कि संसार में जहाँ सब मेरा सम्मान करते हैं वहाँ कुछ अभागे ऐसे भी हैं जो मुझे फूटी आँखों से भी नही देख सकते। ये हैं कामी और चोर। वे मुझसे अकारण विद्वेष रखते हैं। लेकिन रखें, मुझे इसकी कोई चिंता नहीं। उल्लू यदि सूर्य को न देखे तो इसमें सूर्य का कुछ दोष नहीं होता।

लोग मुझ पर एक यह आरोप भी लगाते है कि मेरा बाह्य तो उज्ज्वल है किन्तु अन्तःकरण मलीन है। किन्तु यह निराधार और अनर्गल है। लोक-हित की वेदी पर आत्म बलि देकर मैं जिस सार वस्तु का दान संसार को देता हूँ वह प्रकाश है। धूम्र तो मेरा केवल विजातीय अंश मात्र है। परन्तु जो कुछ हो। उसका भी तो कितना बड़ा उपयोग है। उसी धूम्र वा कज्जल का लाभ उठाकर लोग मुझ से तीव्र-दृष्टि का वरदान पाते हैं।

मुझ में एक गुण सर्वोपरि हैं, और वह है निस्वार्थ त्याग। लोग तो पहले घर में चिराग जलाकर तब मसजिद में जलाते हैं, परन्तु मैं मानो मसजिद में जलाकर भी अपने घर से उदासीन रहता हूँ।

मुझे दूसरों की भलाई के आगे अपनी चिन्ता नहीं होती। देखो मुझे अपने मुँह मियाँ मिट्ठू बनने का दोष न देना। सचमुच मेरे समान त्यागी और उदार होना कठिन है। मैं पराए घरों को आलोकपूर्ण करके भी अपना घर अँधेरा रखता हूँ। इसीलिए तो संसार में मेरा इतना मान है।

मैं भगवान् कृष्ण का अवतार हूँ। न जाने कितनी गोप-गोपियाँ मेरे दर्शन के लिए आकुल रहती हैं। मैं घोर ग्रीष्म और बरसात में रास का आयोजन करता हूं। पतंगें मंडलाकार होकर मेरे चारों ओर नृत्य करती हैं और गाते-रिझाते मुझमें अपना अस्तित्व लीन कर देती हैं। मेरी इस दिव्य प्रेम-लीला का गान कवियों ने मुक्त-कंठ से किया है।

मेरे प्रति वैसे तो सभी श्रद्धा और पूज्य दृष्टि रखते हैं परन्तु जो आदर और सरल स्नेह मुझे शेखचिल्ली से मिला है वह दूसरे से नहीं। एक बार की बात है, वह सुसराल गया। वहाँ जाकर देखा कि कोई विचित्र चीज़ आले में रखी हुई, मंद मंद जल रही हैं। उसकी निर्मल ज्योति से रात में भी दिन-सा खिल रहा है! मेरा कौतुक देखकर उसे बड़ा विस्मय हुआ। वह मेरे नाम से अनभिज्ञ था। बहुत सोचने विचार ने के पश्चात् उसने मेरा नाम "अंजुरिया का बच्चा" रखा। कहने के लिए मूर्खता का सेहरा अभागे शेखचिल्ली के सर ही रखा जाता है, परन्तु अपने को विज्ञ समझने वालों की बुद्धि में मेरे लिए इतना सुसंगत और भावपूर्ण नाम आज तक न आया! निदान मैं अपूर्व और अनहोनी चीज जो था, उसके मन में मुझे घर ले जाने की उत्कट इच्छा हुई। लज्जा और संकोच के कारण किसी से माँग तो न सका परन्तु रात को जब घरके सब लोग सो गये तब चुपके से उठा और मुझे छप्पर में रख जा सोया। थोड़ी देर बाद लोग आग-आग चिल्लाते दौड़े। जल्दी जल्दी घर का माल-असबाब बाहर निकाला जाने लगा। सबको अपनी अपनी पड़ी थी। केवल एक शेखचिल्ली ही था जो मेरे लिए व्यग्र था और अधीर होकर सबसे पूछ रहा था कि मेरा "अंजुरिला का बच्चा" कहाँ है?

संसार में मैं अकेला नहीं हूँ। सर्वसाधारण की तरह मेरा भी एक घर है। मेरे भी मां-बाप, स्त्री और बच्चे हैं। गाँव की स्त्रियाँ इसकी

साक्षी हैं। वे मेरे आगमन पर पूजा-वंदन आदि से मेरा सत्कार करतीं और लौटने पर स्नेह पूर्वक विदा देती हैं। मैं आशीर्वाद देता हुआ आता हूँ और कृतज्ञता प्रकाशित करता हुआ चला जाता हूँ। जब वे सोने के लिए जाती हैं तब अपने गोरे और सुकुमार हाथों से मुझे विदा का संकेत करती हैं। मैं उनके संकेत को समझ जाता हूँ और अपनी राह लेता हूँ। चलते-चलते मुझे उनके मधुर कंठ से विदा-गीत की ये भावपूर्ण पंक्तियाँ सुनाई देती हैं:—

जा जा घर दीये आपने,
तेरी माइल लोरे बाट,
तेरी धनी बिछावै खाट।
अबेरी जइयो,
सबेरी अइयो,
मात-पिता सू राम-राम कहियो!

—:—

बनारस
१६—२—४१

: १५ :

जूता

जूता पहनने की प्रथा आदिम जातियों में नहीं थी। अतः आज भी हम देखते हैं कि जो लोग सभ्यता की दृष्टि से पिछड़े हुए हैं उनमें उसका प्रचलन नहीं के बराबर है। महाभारत के अनुशासन पर्व में जूते के आविर्भाव की एक बड़ी ही रोचक कथा है। एक बार जमदग्नि ऋषि क्रीड़ावश धनुष पर बाण चढ़ा - चढ़ा कर छोड़ते थे और उनकी पत्नी रेणुका उन फेंके हुए बाणों को ला - लाकर उन्हें देती थी। धीरे-धीरे मध्यान्ह हो गया और कड़ी धूप पड़ने लगी। पतिव्रता रेणुका जब बाण लाने गई तो धूप के कारण उसके पैर जलने लगे और सर चक्कर खाने लगा। व्याकुल होकर वह कुछ देर के लिए एक वृक्ष के नीचे बैठ गई। अन्त में जब वह बाणों को एकत्र करके ऋषि के पास लौटी तो उन्होंने क्रुद्ध होकर उससे देरी का कारण पूछा। रेणुका के ठीक-ठीक निवेदन कर देने पर जमदग्नि अकारण संतापकारी सूर्य पर अत्यंत कुपित हुए और आवेश में अपने धनुष पर बाण चढ़ा कर उसे मार गिराने के लिए तैयार हो गए। सूर्य बड़े संकट में पड़े और तत्काल ब्राह्मण का वेश धारण कर ऋषि की शरण में आए। ऋषि ने दयाकर उन्हें अभयदान दिया किंतु साथ ही कोई ऐसा उपाय अवश्य पूछा जिससे उनकी पत्नी रेणुका को मार्ग में चलने पर धूप का कष्ट न हो। कहा जाता है इसी उपलक्ष्य में सूर्य ने जमदग्नि को एक जोड़ा जूता और एक छाता प्रदान किए।

जो हो, जूते का नाम पादत्राण इसीलिए है कि उससे पैरों की रक्षा होती है। जूता न केवल हमें धूप से बचाता है प्रत्युत वह कीड़ा और कांटे से भी हमारी रक्षा करता है। यह बात दूसरी है कि आज हम उसे केवल मात्र एक आवश्यक वस्तु न समझकर एक मूल्यवान् और शोभातिशायी उपकरण समझें और इस बात का प्रयत्न करें कि वह न केवल हमारे देश और काल के ही अनुकूल हो प्रत्युत रूप और रंग में भी हमारे पहनावे से स्पर्द्धा करता हो !

अतः यही कारण है कि समय के साथ जूते के कारोबार ने इतनी उन्नति की है जिसका ठिकाना नहीं। पुराने जमाने में दस पाँच तरह के जूते देखने को मिलते थे। बहुत होंगे सौ-दोसौ या हज़ार - दो हजार तरह के। पर, आज तो लाखों क्या करोड़ों तरह के जूते देख लीजिए। सभ्यता की सुरसा ने जितना ही अपना मुँह फैलाया उतना ही जूता रूप कपि ने मानों अपनी माया का प्रसार किया है। अस्तु, जिधर निकल जाइए एक से एक नए फैशन के जूते देख लीजिए। बाटा, फ्लेक्स, डासन, दयाल - बाग़ और न जाने क्या क्या !

एक ज़माना था जब सर पर टोपी और पैरों में जूते ही किसी की संभ्रांतता के चिन्ह समझे जाते थे, पर आज ऐसी बात नहीं है। आज तो सर पर टोपी भले ही न हो - क्यों कि एक तो वह यों ही उतर चुकी है दूसरे अनावश्यक केश - कलाप से उसकी कोई खास आवश्यकता भी नहीं रह गई - पर पैरों में जूता होना अनिवार्य है। जूता पहने बग़ैर आप घर से बाहर पैर रख नहीं सकते। अड़ौस - पड़ौस से लेकर बाज़ार - हाट यहाँ तक कि सुबह - शाम की हवा - ख़ोरी में भी आपको उनकी आवश्यकता होगी। गज़ब तो यह है कि यदि संयोग से कभी आप नई रोशनी के कुछ प्रगतिशील महानुभावों के संपर्क में आगए तो शायद जूतों से आपका संबंध - विच्छेद डाइनिंग टेमुल पर भी न हो !

अतः दुनिया में सबसे अधिक क़द्र जूते की है। यदि आपके पैरों में जूता है तो आप खाते - पीते एक भले आदमी हैं, यदि नहीं तो नंगे। विचित्र बात तो यह है कि पैरों के बजाय यदि जूता आदके हाथ में है तो कहना क्या ? फिर तो आप वे मुल्क नवाब और बेताज के बादशाह हैं। आप आश्चर्य न करें। जूता चीज़ ही ऐसी है। वह निश्चित रूप से

सज्जनों की शोभा और प्रचंड आततायी का सर्वोत्तम इलाज है। हाँ, दम होना चाहिए। उसकी विकट मार के आगे बड़े - बड़े सहस्रबाहुओं का मद झड़ जाता है और बड़े - बड़े दुर्योधनों और दुःशासनों का दिमाग दुरुस्त हो जाता है। यही कारण है कि उसकी पूजा हमेशा से होती आई है। भगवान् रामचंद्र का जूता एक दो दिन नहीं पूरे चौदह वर्ष पुजा और रात - दिन उसकी भरत और अयोध्या - वासियों ने आरती उतारी। बात यह है कि निरे सीधेपन से दुनिया में काम नहीं चलता। आप बिलकुल बछिया के ताऊ हैं तो सिवाय इसके कि रात - दिन किसी के जुए के नीचे पिसते रहें और क्या होगा? पर यदि भलमनसाहत के साथ कुछ हेकड़ी भी रखते हैं तो यह संभव नहीं कि कोई आपको अनायास घोलकर पीजाए। टेढ़े चंद्रमा से राहु भी दूर भागता है!

साधारणतः जूते चमड़े के होते हैं, कपड़े, रबर और प्लास्टिक के भी बनने लगे हैं, और उन्हें दुनिया पहनती है। पर, एक जूता चाँदी का भी होता है जो बड़े - बड़ों की चाँद पर फिट हो जाता है। सामान्य जूते से इसकी ताकत हज़ार गुना बढ़कर होती है। इसके ज़ोर से आप संसार में कठिन से कठिन कार्य भी बड़ी सरलता से संपन्न कर सकते हैं। आप चार फुट छः इंच लंबे और एक फुट तीन इंच चौड़े सही, रूखी - सूखी मुर्ग़ाई हड्डियों में - का ढाँचा लेकर दिन काटते सही पर यदि आपके चाँदी के जूते में जोर है तो उसके बूते आप बड़े बड़े शूरमाओं के मुँह मोड़ सकते है। घर से लेकर पास - पड़ौस, जाति - बिरादरी, बृहत्तर मानव - समाज, धर्म और न्यायालय कोई भी आपका साथ छोड़ने का दुस्साहस न करेगा। आप चाहें तो दिन दहाड़े क़त्ल करें, किसी की इज्जतो - अस्मत लूटें, डाका डालें, आँखों में धूल झोंक कर किसी का सर्वस्व अपहरण करें, जी खोलकर निर्लज्जतापूर्वक रिश्वतें लें समाज आपकी पूजा करेगा। कहा भी तो है:—

"सर्वे गुणाः कांचनमाश्रयंति।"

—:—

एटा
११—११—५५।

: १६ :

आज नकद कल उधार

आपके पास 'अलादीन का चिराग़' हो तो कहीं जाने की आवश्यकता नहीं। जो इच्छा हो, घर बैठे पूरी हो जाए। किंतु उसके अभाव में किसी के लिए पैर तोड़कर घर बैठना मुश्किल है। बच्चा हो या बूढ़ा, गृहस्थ हो या संन्यासी, प्रायः सभी को अपनी दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए बाज़ार की शरण लेनी पड़ती है। काम भी कैसे चले। आप विद्यार्थी हैं तो आपको काग़ज़-पैंसिल, रबर और रोशनाई की आवश्यकता है। बाल बच्चों वाले हैं, और घर में श्रीमती जी कुछ रंगीन मिज़ाज हैं तो क्रीम, पाउडर और लिपिस्टिक आदि की फ़िक्र करनी है। बूढ़े हैं तो नाती-पोतों के लिए कुछ टोफीज़, कुछ लेमन-ड्राप्स और कुछ बिस्कुट लेकर आना है। यह भी न हो, तो जाने खाना-पीना कैसा बना हो। आख़िर जवानी की बात तो नहीं। तब किसी काम के थे, और चार पैसे लेकर घर में घुसते थे। अब बुढ़ापे में ठाली पड़े कौन पूछता है। बेटे-बहुओं का राज है। जो बना सामने रख दिया। खाँय तो बला से, न खाँय तो बला से। इससे न हो तो कुछ रबड़ी लेते चलें। क्या पता चौका उठाकर रख दिया हो और ठंडी, या ईश्वर न करे, बासी रोटियों के लिए पुराने दाँत कुछ कमज़ोर पड़ें, तो उससे कुछ सहारा हो जायेगा। निदान, आप हर हालत में बाज़ार जायेंगे। उसके बिना गुज़र नहीं लेकिन वहाँ जाने से पहले अच्छा हो कि आप अपनी जेबें टटोल लें, और अच्छी तरह देखलें कि वे खाली न हों जिससे कहीं आपको सरे बाज़ार किसी से यह न सुनना पड़े—"आज नकद कल उधार"!

क्यों...? इसलिए कि दूकानदार की आपसे कुछ दोस्ती तो नहीं और हो भी तो क्या ? आख़िर घोड़ा घास से यारी करेगा तो खायेगा क्या ? दूकान खोली है तो चार पैसे कमाने के लिए, जिससे निर्वाह हो, न कि इसलिए कि घर लुटा दिया जाय। अतः दूकानदार स्वागत तो उसी का करेगा जो चार पैसे लेकर दूकान पर चढ़ा है। बाक़ी दूसरों के लिए रास्ता पड़ा है। मज़े से चलते-फिरते नज़र आएँ। या फिर, खुले शब्दों में उससे सुनें—"श्रीमान्, उधार माँगकर शर्मिंदा न करें !

दिन निकले दूकानदार उठकर अपनी दूकान खोलता है; और मनाता है—"हे परमेश्वर, किसी भाग्यवान् का मुँह दिखाना !" गाहक आने आरंभ होते हैं। कोई ग़रीब कोई अमीर। परंतु उसे इससे क्या लेना ? कोई राजा है तो अपने घर का, और भिखारी है तो अपने घर का। न उसे राजा के आगे हाथ फैलाना है, और न रंक के लिए रोना। उसे तो देनदार की आवश्यकता है। और बस वही उसके लिए मालिक है, सरकार है, और राजा बाबू है। उसे पहले गाँठ के पूरे की तलाश है, यदि आँख का अंधा भी हो तो वाह-वाह !

इसलिए अच्छा यही है कि आप बे-पैसे टके कभी बाजार न जाएँ। जेब खाली तो हाथ खाली। यदि आप निश्किंचन हैं तो दूकानदार के यहाँ न तो सौदा है, और न आपसे बोलने का अवकाश। आप आएँ और खड़े रहें। वह आपकी तरफ मुँह उठाकर देखेगा भी नहीं। कोई गाहक न भी रहेगा तब भी उस पर अनेकों काम हैं। कहीं चावल और नाज के दाने बिखरे हैं, उसे उन्हें बीनना है। हाँडियाँ और टोकरे अव्यवस्थित रखे हैं, उन्हें यथास्थान लगाना है अंदर चूहों ने कुछ गड़बड़ी की है, वहाँ देखना-भालना है !

दूकानदार उच्चकोटि का सामुद्रिक और मनोविज्ञान का पूर्ण पंडित होता है। गाहकों की आकृति एवं चेष्टाओं से उसे तत्काल उनके मनोगत भावों का पता लग जाता है। यदि वह समझेगा कि आप उधार लेने की फ़िक्र में हैं तो वह आपसे बात ही न करेगा। और यदि किसी प्रकार आपने उसे अपनी ओर आकृष्ट कर ही लिया तो उसका परिणाम कुछ न निकलेगा। वह आपकी राम-कहानी आरंभ

होने का अवसर न देगा इससे पहले कि आपकी नौकरी छूट जाय, हाथ तंग हो, बेटा अलग हो जाय और बाल बच्चे भूखों मरते हों, उसकी रक़म बारह-बाट हो जायेगी, व्यापार चौपट हो जायेगा और हाथ पर हाथ रखकर बैठने की नौबत आ जायेगी !

संसार में हर प्रकार के मनुष्य होते हैं। अच्छे भी और बुरे भी। विशेषतः बाज़ारों में ऐसे मनुष्यों की कमी नहीं होती जो ऊपर से तो पूरे साहब दिखलाई देते हैं, किंतु भीतर से महाधर्त, प्रपंची और लुटेरे होते हैं। वे दिन दहाड़े डाका डालते हैं। दूकान पर आ खड़े हुए। खाक न लेंगे लेकिन "यह दिखलाइये", "वह दिखलाइये" और "आपके यहाँ इस चीज का फलाना मेक है" आदि प्रश्नों से दूकानदार के होश उड़ा देंगे। ज़रा आँख बची और झट से कोई चीज पार करदी। रात हुई या प्रकाश कुछ कम हुआ तो खोटे दाम पकड़ा चले। चीज़ खरीद ली और पैसे देने का समय आया तो मालूम हुआ कि मनीबेग घर पर रह गया। बड़ी मजबूरी हो गई। खरीदी हुई चीज छोड़ जाना उनकी शान के खिलाफ है। हाँ पैसे घर से भिजवाए जा सकते हैं। दूकानदार ने सूरत-शक्ल देखकर कुछ लिहाज किया तो ग़रीब पत्थर से मारा गया। जीवन में फिर कभी श्रीमान् के दर्शन न हो सके।

अस्तु, "आज नक़द कल उधार", "नक़द-नारायण" और "टर्म्स कैश" आदिक नई नई बातें छल, कपट और विश्वास-घात से पूर्ण आधुनिक सभ्यता की दे हैं। एक वह भी समय था जब ज़बानी सौदे होते थे और उसी के आधार पर बेटा बेटी पराए हो जाते थे। ऋण-कर्ता भी जब तक ऋण-मुक्त न हो जाता तब तक लोक और परलोक दोनों में उसके लिए अपने को चिर-उत्तरदायी मानता था। इसके लिए किसी साक्ष्य अथवा न्यायाधिकरण की आवश्यकता न थी। किंतु आज तो ज़माना ही दूसरा है। सचाई और ईमानदारी को लोगों ने ताक पर उठा कर रख दिया है। दूसरों की आँखों में धूल झोंकना और अपना स्वार्थ सिद्ध करना बुद्धिमानी समझी जाती है। किसी का रुपया लेकर लौटाना लोग महामूर्खता समझते हैं। ऐसी दशा में दूकानदार किसी को उधार देकर क्या करे ? आखिर अपना रुपया पटाने का उस पर कौनसा साधन है ? क्या बल-प्रयोग ?...नहीं

उसके लिए वह नितांत अयोग्य है। तब क्या न्यायालय ?... वहाँ है तः क्या है ? और फिर बेचारे दूकानदार पर इतना अवकाश कहाँ कि अपनी दूकान छोड़कर मुंसिफी और जजी की खाक छाने, वकीलों के पीछे उल्लू बना घूमे और अपनी उलटी हजामत बनबाए।

जो हो, पर ऐसी बात नहीं है कि दूकानदार ने उधार न देने की क़सम खाली हो। विशेषतः आधुनिक काल में उधार के बिना किसी का काम नहीं चलता। राज्य तथा उससे संचालित विभिन्न संस्थाएँ बड़े-बड़े बैंक एवं उच्च कोटि के व्यवसायी बराबर उसका आश्रय लेते हैं। साधारण जीवन में भी सफल वाणिज्य का एकमात्र साधन उधार ही है। दूकानदार उधार न देगा तो बेचेगा क्या ? और क्या लाभ उठाएगा ? आखिर यह तो उधार की ही बरकत है कि दिन दूने रात सवाए होते हैं। आदमी ढंग के होते हैं तो उनसे अबेर-सबेर रुपया लौट ही आता है। फिर हर समय रोकड़ बाँधे कौन घूमता है ? जिंदगी ही तो है। उसमें उतार-चढ़ाव आने स्वाभाविक हैं। कभी कभी ऐसी स्थिति बन जाती है कि हम उधार लेने के लिए विवश हो जाते हैं। कोई चारा नहीं रहता। और उधर दूकानदार भी सैकड़ों और हज़ारों का माल बेचने के लिए ही रखता है न कि सड़ाने के लिए। पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होने वाले अगणित विज्ञापन, सिनेमा-पिक्चर्स के कलापूर्ण स्लाइड्स तथा विभिन्न आकाश-वाणी -केन्द्रों से प्रसारित होने वाले नृत्य-गीत एवं वाद्य समन्वित मनोमोहक व्यापारिक सूचनाएँ इसके यथेष्ट प्रमाण हैं। अतएव, जहाँ क्रेता और विक्रेता दोनों का ही अभीष्ट सिद्ध होता हो वहाँ आपत्ति के लिए स्थान कैसे हो सकता है ? हाँ आपत्ति वहाँ अवश्य होगी जहाँ क्रेता भूखा-नंगा या नादहंदा हो, क्यों कि दुनिया में ऐसा कोई आदमी नहीं जो अपनी रक़म बरबाद करने के लिए दूकान खोलकर बैठा हो। देर के लिए तो दूकानदार शायद तैयार हो सकता है, लेकिन अंधेर के लिए कदापि नहीं। तात्पर्य यह है कि वह ऐसे व्यक्ति को कभी उधार नहीं दे सकता जिससे रुपया वसूल होने की आशा न हो। यदि संयोग से कोई ऐसा व्यक्ति आ ही मरता है तो उससे पिंड छुड़ाने के लिए "आज नक़द कल उधार" महामंत्र का काम देता है।

"आज नक़द कल उधार" दूकानदार के हित का साधक और मंगल का कर्ता ही नहीं, अपितु वह दूकान की शोभा-वृद्धि का भी

कारण है। दूकानदार की दूकान गंदी और अव्यवस्थित हो सकती है, वह स्वयं भी चिकटे हुए कपड़े पहने हो सकता है, किंतु उसमें सौंदर्य-बोध-वृत्ति का नितांत अभाव नहीं है। संसार में ऐसा कौन है जिसे अपना घर-द्वार सजाना अच्छा नहीं लगता। यदि पेट-पाली अकर्मण्य पुजारी दिन में अनेक बार ठाकुर जी के स्नान, शृंगार और राग-भोग की व्यवस्था कर सकता है, तो वणिक् भी जीवन और जीविका की दात्री दूकान की शोभा-सज्जा में कैसे पीछे रहेगा? इसलिए जहाँ उसने अपने नाम, काम और धाम का सूचक साइन-बोर्ड टाँग रखा है, वहाँ दूसरी ओर आपत्तियों से बचने के हेतु "कवच" और "कीलक" की नाईं "आज नक़द कल उधार" को भी आदर-पूर्वक ऊंचा स्थान दिया है। अथवा जिस प्रकार कोई स्मार्त अपने गृह-द्वार पर मंगल के विधान और अमंगल के शमन के लिए श्री गणेश जी की मूर्ति की स्थापना करता है, उसी प्रकार दूकानदार भी ऋद्धि के दाता तथा विघ्नों के निवारक "आज नक़द कल उधार" को अपनी दूकान पर प्रतिष्ठित करता है। उक्त गुणों के कारण यदि आप इसे गणपति का स्थानापन्न कहें तो अत्युक्ति न होगी।

यही क्यों? "आज नकद कल उधार" से यदा-कदा आमोद-प्रमोद का भी पर्याप्त अवसर मिलता है। श्री-सम्पन्न और साख वाले लोग दूकान पर आते हैं और इठलाकर पूछते हैं - "क्यों सेठ जी, आज तो सौदा आपके यहाँ नकद ही मिलेगा। इससे कल आएं। तब तो उधार दीजिएगा"?...और उत्तर मिलता है - "अरे क्या बात करते हैं आप भी बाबूजी! आपकी तो दूकान ही है। फिक्र क्या है? जब चाहे उधार लीजिए!" दोनों ओर हास्य की झड़ी लग जाती हैं।

दूसरी ओर संसार में ऐसे लोगों की भी कमी नहीं जो नितांत भक्कड़ और परोपजीवी होते हैं। उनके सामने चार्वाक्, उमर खैयाम अथवा मिर्ज़ा गालिब जैसे फाके-मस्तों को आदर्श रहता है। वे वर्तमान के होकर जीते हैं। भूत उनके लिए निष्प्रयोजन और भविष्यत अचिंतनीय होता है। जो बीत गया उसका रोना क्या, और जो आनगत है उसका खेद कैसा! अतः जो मिला तत्काल बेफिक्री से उड़ा दिया। चिंता क्या है? ईश्वर देता है। संयोग से कभी खासी रकम हाथ लग गई तो क्या कहना। जरदा, पुलाव और शीरीनी से दस्तरखान आरास्ता

है, रंगीन बोतलें बाकायदे रखी हैं, यार - दास्तों की महफिल लगी है और ताना - रीरी की आवाजें आरहीं हैं। कल कुछ न रहा तो आजिज़ी या बेशर्मी के साथ किसी जान - पहचान की दूकान पर आ खड़े हुए। मौका देखा तो हाथ जोड़ लिए, पैरों पर गिर गए और कसम - धर्म उठाकर दो - चार रुपए का सौदा ले गए। इससे उनकी शान में बट्टा नहीं आता। इसलिए कि यह कोई नई बात नहीं है। हमेशा से ऐसा होता चला आया है। आखिर रुपया है क्या ?...हाथ का मैल ही तो ? यदि इस मैल से दस्ते - मुबारक पाक बने रहें तो बुरा क्या ?

और काबुली ख़ानों को लीजिए। ये विचित्र जीव हैं। अन्य दूकानदारों की भाँति ये "नक़द-नारायण" के उपासक नहीं होते। इनका इष्टदेव "उधार" है। व्यवसाही होकर भी इन्हें नक़द से तीव्र घृणा होती है। आप इनकी दूकान पर जाइए। आपका नाम नहीं जानते, गाँव नहीं जानते और आपकी स्थिति से भी पूर्ण परिचित नहीं, किंतु इनसे उधार पाने में आपको कोई कठिनाई न होगी। उलटे सहर्ष आपका स्वागत होगा। आपने कोई चीज ख़रीदी और दाम चुकाकर निकल भागे तो दूसरी बात है, किंतु, यदि एक बार भी इनके चंगुल में फँसे तो जिंदगी भर निकलना कैसा। आपका आत्म-सम्मान, आपकी स्वतंत्रता, आपका सुख और आपकी शांति जीवन से सदैव के लिए विदा हो जायगी और आप कदाचित् निराशा और पश्चात्ताप भरे स्वर में गुनगुनायेंगे—

"को छूट्यो इहि जाल परि, कत कुरंग अकुलात।
ज्यों-ज्यों सुरझि भज्यो चहै, त्यों-त्यों उरझत जात॥

—:—

मुजफ्फर नगर
१६—८—४३
एटा २७—६—५३

: १७ :

दाताराम !

"दाताराम !"...इन चार अक्षरों में भी कितना आकर्षण है ! आज से नहीं प्रायः साढ़े तीन सौ वर्ष के दीर्घकाल से लोग बराबर उसे इन अमर पंक्तियों में याद करते चले आ रहे हैं:—

"अजगर करै न चाकरी, पंछी करै न काम।
दास मलूका कहि गए, सबके दाता राम॥"

लेकिन मेरा तात्पर्य यहाँ आलसियों के उपजीव्य चराचर जगत के स्वामी दाताराम से नहीं, अपितु इसी धराधाम के बीसवीं शताब्दी के एक सजीव और मूर्तिमान् व्यक्तित्व से है।

छोटी आँखें और उन आँखों पर सुनहरी फ्रेम का सूबसूरत चश्मा, स्थूलकाय और उसे कठिनाई से वहन करने वाले छोटे - छोटे पैर, गौर वर्ण और उससे रह रह - कर उद्भासित होने वाला जातीय दर्प- ये हैं पंडित दाताराम, राजकीय उत्तर-माध्यमिक विद्यालय, मुज़फ्फर-नगर के वयोवृद्ध सहायक अध्यापक।

लोग दो नावों पर सवार होना असंभव बतलाते हैं किंतु यदि आप इसे वास्तव में कहीं चरितार्थ होता हुआ देखना चाहें तो पंडित जी के दर्शन अवश्य करें। पंडित जी शू पहनते हैं किंतु कुछ तो चाल की विलक्षणता और कुछ भारी - भरकम शरीर की कृपा से उनके जूते शीघ्र ही रेस-बोटों का रूप धारण कर लेते हैं। लेकिन इन बोटों पर सवार होकर भी पंडित जी दौड़ नहीं लगाते। ऐसा दुस्साहस वे कर

भी नहीं सकते। क्यों कि कौन जानता है कि उनके दुर्वह भार से ऊबे हुए बदमाश घोड़ों के समान उनके पैर कब उन्हें अकस्मात् धोखा देद और फिर लोगों के देखते-देखते उनके पवित्र शरीर के सँभालने की जिम्मेदारी आ पड़े उनके सुकुमार हाथों पर। अतः वे लुढ़कते-पुढ़कते कुछ इस प्रकार चलते हैं मानों कोई महाकच्छप जलाशय से निकल कर स्थल पर चलने का कठिन प्रयास कर रहा हो!

अस्तु, मुजफ़्फरनगर ज़िले के कैराना नामक स्थान में एक कुलीन और प्रतिष्ठित ब्राह्मण परिवार में पंडित जी का जन्म हुआ। आपके पिता पंडित टीकाराम जी बाजना जिला मथुरा के निवासी थे और जीविका-साधन के निमित कैराने आकर बस गए थे। आपकी माता का नाम सुश्री हीरादेवी था। पंडित जी की आरंभिक शिक्षा वहीं कैराने में हुई। आप कुशाग्र-बुद्धि और होनहार विद्यार्थी थे इसलिए अध्यापकों की उनके ऊपर सदैव विशेष कृपा रहती थी। सन् १६०६ में आपने वर्नाक्यूलर फ़ाइनल की परीक्षा पास की जिसमें आप प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण हुए और साथ ही छात्रवृत्ति भी प्राप्त की।

मिडिल करने के बाद आप मुजफ़्फरनगर आकर वहाँ के गवर्नमेंट हाईस्कूल में प्रविष्ट हो गए और सन् १६१४ में एस० एल० सी० की परीक्षा दी जिसमें आप द्वितीय श्रेणी में उत्तीर्ण हुए। इसके उपरांत प्रायः पाँच वर्ष के व्यवधान के बाद आपने सन् १६२१ में प्राइवेटइण्टर किया और तृतीय श्रेणी में उत्तीर्ण हुए।

पंडित जी के विद्यार्थी-जीवन की सफलताओं को यदि हम कबीर की उलटबांसी अथवा योगियों का शीर्षासन कहें तो अत्युक्ति न होगी हिंदी मिडिल में प्रथम श्रेणी और छात्र-वृत्ति, दसवीं में द्वितीय और इण्टर में तृतीय श्रेणी। हाँ श्रेणी के नाते तो फिर इससे नीचे कुछ था ही नहीं अन्यथा उसके लिए भी पंडित जी अवश्य प्रयत्नशील होते। इसीलिए शायद उन्होंने आगे पढ़ना ही छोड़ दिया। किंतु यह सब कुछ होते हुए भी इसमें संदेह नहीं कि पंडित जी ने अपने लिए जो कार्य-क्षेत्र चुना था वे उसके लिए सर्वथा योग्य थे और उस योग्यता का वास्तविक प्रमाण था उनका सी० टी० का परीक्षा-फल डबल फर्स्ट!

अस्तु, सन् १६१२ लखनऊ के राजकीय दीक्षा विद्यालय से सम्मान के साथ सी० टी० की उपाधि प्राप्त करने पर उसी वर्ष जुलाई में आपकी नियुक्ति गव० हा० स्कूल अलीगढ़ में सहायक अध्यापक के रूप में हो गई। पश्चात् सन् १६२२ में वे संयोग से मुजफ्फरनगर के उसी गव० हा० स्कूल में स्थानांतरित होकर आगए जिसमें उन्हें कभी पढ़ने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। तबसे बराबर सेवा करते हुए वे वहीं रहे यहाँ तक कि एक दिन उनका अवकाश-प्राप्ति का समय भी आ गया!

इसमें संदेह नहीं कि पंडित जी में वे सारे गुण विद्यमान हैं जो एक आदर्श अध्यापक में होने चाहिए। पांडित्य, कर्तव्य-परायणता, श्रमशीलता और प्रभावशाली व्यक्तित्व! जरा का सहज उपहास करने वाला उनका रजत-मंडित उत्तमांग, गर्वोन्नत ललाट तथा उच्च स्वर, प्रथम परिचय में ही विद्यार्थियों को मोह लेते हैं। यह वस्तुतः गर्व की बात है कि विद्यार्थी उनकी गणना आदर्श अध्यापकों में करते हैं। अँग्रेजी, गणित, इतिहास और भूगोल जैसे प्रमुख विषयों पर उनका सुन्दर और समान अधिकार है।

कुछ लोगों की सम्मति में एकाधिक विषयों का ज्ञान अयोग्यता और मतिचांचल्य का द्योतक है। किंतु पंडित जी इसके अपवाद हैं। परम पुनीत भागीरथी के समान समुद्र तट पर शत-शत धाराओं में विभाजित होकर भी पंडित जी की प्रतिभा अपनी महिमा और गरिमा को सुरक्षित रखती है। इतना ही नहीं, उनके अंदर कार्य करने की भी जबरदस्त शक्ति है। इस अवस्था में भी उनकी परिश्रमशीलता को देखकर लोग दाँतों तले उंगली दबाते हैं। मुझे याद है एक बार पंडित हर नरायन जी ने उनके लिए कहा था—"ऐसी अनटायरिंग एनरजी का आदमी होना भी मुश्किल है!"

पंडित दाताराम जी विनय और शील की मूर्ति हैं। भगवान् शंकर के समान वे सहज प्रसन्न और आशुतोष हैं किंतु साथ ही कुपित होने पर महाप्रलय का संघटन करने वाले भी हैं। वे भले के लिए भले, और बुरे के लिए महा बुरे हैं। वे व्यवहार-कुशल हैं, अवसर की प्रतीक्षा में रहते हैं किंतु उनकी कुशलता कोरे स्वार्थ से

भरी हुई नहीं हैं। वे विनिमय का अर्थ जानते हैं। नज़ीर के पक्के अनुयायी हैं—"इस हाथ दे, उस हाथ ले! वे खर्च करना जानते हैं। रुपए को वे इससे अधिक कभी नहीं समझते कि वह सुख और आदरपूर्वक रहने का एक साधन है। उत्साह और परिश्रम के साथ कमाना और फिर उसे जीवन के सुख-सम्मान के निमित्त निस्संकोच व्यय कर देना वे अच्छी तरह जानते हैं। अभ्यागतों की उनके यहाँ भीड़ लगी रहती है। कोई न कोई आया ही रहता है किंतु सबके साथ वही उदारता, वही स्नेह, वही सद्भाव!

पंडित जी का पारिवारिक जीवन सुख और सौभाग्य से पूर्ण है। वास्तव में उनके जैसा भाग्यशाली होना कठिन है जिस पर लक्ष्मी और सरस्वती दोनों की समान अनुकंपा हो। सुयोग्य गृहिणी, स्वस्थ और सुन्दर संतान, घर-बार, सुख और शांति सभी कुछ उन्हे प्राप्त है। और विशेषता यह कि इस सबका श्रेय एकमात्र उन्हीं को है। मनुष्य अपने अध्यवसाय और परिश्रम से किस प्रकार अपने जीवन को श्लाघ्य बना सकता है इसके वे ज्वलंत उदाहरण हैं। अपने उद्देश्य में दृढ़ रहना उनके चरित्र की विशेषता है। जो एक बार निश्चय कर लिया उसमें विचलित होना कैसा। सोच लिया कि लड़के को डाक्टरी में, भेजना है, बस फिर क्या है, पड़ गए उसके पीछे डाक्टरी में असफलता, बी० एससी० में फेल...कोई बात नहीं। "फिर बैठो। तुम्हारा काम बैठना है, और मेरा काम बिठाना!" आगरे में फेल। लखनऊ में फेल...। खैर जाने दो। खर्च की परवाहन करना और न जी छोटा करना। महनत करो और उत्साह के साथ बैठो।" और फिर अंत में सफलता!

वस्तुतः, मैंने अपनी आँखों से ऐसा पुरुषार्थी और साथ ही ऐसा उदार आदमी नहीं देखा। कमा तो बहुत सकते हैं किंतु कमाने के बाद फिर उसे सोत्साह व्यय कर देना सबके मान की बात नहीं। सुबह से शाम तक अथक परिश्रम करके रुपया कमाना और फिर अपनी संतान के हित के लिए उस रुपए को धूल की तरह उड़ा देना वास्तव में साधारण बात नहीं है। विगत दो वर्ष की बात है। पंडित जी का बड़ा लड़का चि० सुशील लखनऊ डाक्टरी में पढ़ रहा था। उसके लिए उन्हें अकस्मात् अपना प्लाट बेच दिया। कदाचित् उस

लोकेलिटी में वह सबसे अच्छा प्लाट था। जिसने सुना वही आवाक् रह गया किंतु पंडित जी की मुद्रा पर खेद या पश्चात्ताप का कोई भी चिह्न आना कैसा! चर्चा होती तो हँस कर कह देते - "भई लड़का योग्य हो जाएगा तो दस प्लाट खरीद लेगा। मेरे तो जमीन क्या और रुपया सब येही हैं!"

और सुनिए। भगवान् रामचंद्र ने समुद्र पर सेतु बाँधने के लिए नल - नील की सहीयता ली थी। किंतु मेरा विचार है कि यदि उस काल में पंडित जी उपलब्ध होते तो उन्हें वानरों से सहायता की प्रार्थना कदापि न करनी पड़ती। पानी पर पत्थर तैराना पंडित जी भी जानते हैं। आज सुदीर्घ काल से एक ऐसी ही विशद और दुर्वह पर्वत शिला को तैराते - तैराते पंडित जी इण्टर तक तो ले आए हैं। लोग उसे "फाफा" या सुरेश के नाम से जानते हैं। सुयोग्य पिता की गाढ़ी कमाई का ऐसा सदुपयोंग करना क्या किसी सपूत ने सीखा होगा! आठवीं में फेल, नवीं में फेल, फस्ट ईयर में फेल, सेकिंड ईयर में फेल, ओवरसीयरी में फेल! उसे तो जैसे फेल होने से ममत्व ही हो गया है। किंतु, उधर पंडित जी भी मानों बिहारी के शब्दों में यह कहते हुए जान पड़ते हैं —

मोहि तुमहिं बाढ़ी बहस, को जीते यदुराज।
अपने अपने विरदु की दुहुनि निवाहन लाज॥"

—:—

मुजफ्फर नगर,
१०—१—४८

: १८ :

पटवारी ताऊ

"रिंद जो जर्फ़ जठालें वही सागर बन जाय।
जिस जगह बैठके पीलें वही मैख़ाना बने ॥"

जब मैं सात वर्ष का हुआ और एक प्राइमरी स्कूल के विद्यार्थी के नाते मुझे नित्य अच्छी-अच्छी क़लमों की आवश्यकता पड़ी तो मेरा पड़ौस में आकर बसे एक ऐसे वृद्ध और अवकाश-प्राप्त व्यक्ति से अनायास परिचय हो गया जिसके पास सदैव एक बड़ा तेज़ और लंबा चाकू रहता था और जो बहुत अच्छी और सुंदर क़लमें बना सकता था। मैं ही क्यों, पड़ौस के सभी बच्चे उनके पास घिरे रहते। वह उनकी क़लमें बनाते, हँसाते - खिलाते और घोड़े की सवारी कराते। वह वयोवृद्ध थे, किंतु अपनी कोटि के खुर्राट, रूखे-सूखे, मातमी लोगों से नितांत भिन्न थे। अपने निष्कपट सारल्य और उन्मुक्त हास्य के कारण वह बच्चों के अनन्य सहचर थे। लोग उन्हें ताऊ या पटवारी ताऊ कहते। नाम था पंडित नरायन प्रसाद!

ताऊ का जन्म संवत् १९२६ वि० में बुलंदशहर ज़िले के चितसोना नामक ग्राम में हुआ। उनके पिता पं० नौबत राम जी वत्स गौत्री गौड़ ब्राह्मण थे। वह करौरा के पटवारी और परंपरा से राव साहब कुचेसर के पुरोहित थे। वस्तुतः दीर्घकाल से कृषि और राजकीय सेवा ही उनके कुटुंबी जनों की जीविका के प्रमुख साधन थे। ताऊ के पितामह पंडित गंगा प्रसाद भी पटवारी थे और उनकी तथा उनके भाइयों की संतानों

में आज भी अधिकांश पटवारी ही हैं। अतु, ताऊ अपने पिता की ज्येष्ठ संतान थे। उनके एक बहन और दो भाई थे। उन्होंने क़स्बा स्याने से उर्दू मिडिल और अलीगढ़ से पटवारियान पास करके साबितगढ़ में अपने पिता के साथ पटवारगीरी का काम प्रारंभ किया। दो वर्ष के बाद वह खुर्जे के पास सीकरी नामक ग्राम में पटवारी नियुक्त हुए। यहाँ छः वर्ष कार्य करने के उपरांत संवत् १९५२ में पिता की मृत्यु पर वह करौरा चले आए जहाँ वह अठाईस वर्ष तक रहे। ताऊ के जीवन के सबसे सुंदर भाग, यौवन और प्रौढ़ावस्था, यहीं व्यतीत हुए। करौरा और उसका प्रत्येक व्यक्ति उनके हृदय में अविचल स्थान बना चुका था। वह एक ऐसी मधुर और मार्मिक कथा थी जो प्रसंगतः बार-बार सबसे कही-सुनी जाती थी और जिसे वह आजीवन कभी भुला न सके थे। कैसे भुलाते? करौरा में उन्होंने कदाचित् यौवन के सुखद स्वप्नों को देखा था, जीवन में सुलभ हर सुख और भोग का अनुभव किया था, और उस अवस्था के बीतने के साथ उन्होंने अपनी ढलती हुई काया से जीवन की इंद्रधनुषी माया का पाठ भी पढ़ा था। करौरा के प्रत्येक व्यक्ति का नाम और उसकी चर्चा उनकी जबान पर रहती थी। बाद में संवत् १९८० में वह कारणवश करौरा छोड़कर पहासू चले आए जहाँ पाँच वर्ष रहने के बाद उन्होंने कार्य भार अपने सुयोग्य पुत्र पंडित जगदीश प्रसाद शर्मा को सौंपकर अवकाश ग्रहण किया। इस बीच में पहासू में घर-बार तथा जमीन आदि की व्यवस्था हो चुकी थी, बच्चे भी वहीं रहते थे इसलिए ताऊ भी जीवन के अंत तक पहासू ही रहे। इस प्रकार उनके अवकाश-प्राप्त जीवन के प्रायः २० वर्ष पहासू में व्यतीत हुए।

आत्मीयता गाँव की मिट्टी का विशेष गुण है। कोई कहीं से भी आकर कुछ दिन रह जाय कि शीघ्र ही उसके साथ हर प्रकार के संबंधों की कल्पना हो जाती है। कोई ताऊ कहता है, कोई चाचा, कोई फूफा कोई मामा। इन स्नेह-सूत्रों की परंपरा का कोई युक्ति-संगत आधार हो या न हो किंतु उसकी भावना का संस्कार कितना दृढ़ और उसका उत्तरोत्तर विकास कैसा कल्पनातीत होता है। जो हो, किंतु यह आश्चर्य की बात है कि बीस वर्ष पर्यंत गाँव में रहने हुए भी ताऊ, ताऊ से अधिक और कुछ न बन सके। छोटे बड़े सभी उन्हें ताऊ कहते।

ताऊ शब्द अब न तो किसी भाव का द्योतक था और न किसी संबंध विशेष का सूचक। वह तो प्रत्यक्ष में उनका नाम ही हो चुका था। अर्द्ध-मुंडित कपाल, उच्च ललाट, गोल भरा हुआ चेहरा, चमकती हुई बड़ी बड़ी आँखें, देदीप्यमान आकृति, घनी और चढ़ी हुई मूंछें, स्थूल काय, छोटा कद, कंधे पर दोहर और हाथ में नारियल एक ऐसा आकर्षक और निराला व्यक्तित्व था जिससे गाँव के सभी छोटे-बड़े, स्त्री-पुरुष परिचित थे। और, वे सब उन्हें कहते थे, —ताऊ!

ताऊ मेरे पड़ौसी थे। पड़ौस में कितने ही घर और उन घरों में कितने ही बच्चे थे किंतु एक भावुक और साहित्यिक अभिरुचि का विद्यार्थी होने के कारण वह मुझे ही सबसे अधिक मानते और प्यार करते थे। वह भी मेरे हृदय के अत्यत निकट थे। वह गाँव के मेरे अनन्य साथी और मेरी भावुकता के एकमात्र परिपोषक थे। जब कभी मैं अपने स्वप्नों को मूर्त कर भाषा का रूप देता और उल्लास के साथ किसी श्रोता की तलाश करता तो मुझे उनके रूप में एक ऐसे व्यक्ति को पा जाने में कोई कठिनाई न होती जिसके पास हृदय होता और उस हृदय के उपयोग के लिए यथेष्ट अवकाश। कितना उल्लास उन्हें मुझे गाँव में आया हुआ देखकर होता था। जब कभी मैं वहाँ पहुँचता तो यह पहला समाचार होता जिसे प्रत्येक व्यक्ति शीघ्र से शीघ्र उन तक पहुँचा देना आवश्यक समझता था —

"ताऊ महेश आ गया।"

"हहहह...कहाँ है?... कहाँ है?"

वह हँसते खिलखिलाते हैं दूरसे ही आवाज देते हुए आते और मैं उतावली के साथ "ताऊ राम राम।" कहता हुआ घर से बाहर दौड़ता हुआ आता। वह मुझे प्यार करते, सर पर हाथ फेरते और मेरे थके होने की शिकायत करते। चाहे मैं कितना ही अच्छा स्वास्थ्य लेकर गाँव पहुँचा हूँ, उनकी सदिच्छा मुझे सदैव टोकते हुए ही पाती थी। और फिर कुशल-क्षेम के बाद उनका वही सदा-सर्वदा का प्रश्न होता "कहो इस बार मेरे लिए क्या लाए?" और मैं कहता — "लाया हूँ ताऊ, रात को सुनाऊँगा।"

बड़ी प्रतीक्षा के उपरांत रात आती और वह खाट डालकर, चिलम भरकर बैठते। मैं कविताएँ पढ़ता और वह प्रशस्तियों से आकाश गुँजा देते। इतना औत्सुक्य और इतनी तन्मयता मैंने आज तक कदाचित किसी व्यक्ति में नहीं देखी। भावों के अनुकूल रह रहकर प्रकट होने वाले उनके अनुभाव अपर श्रोताओं के लिए आश्चर्य और उपहास का कारण हो जाते थे। और जब फिर मैं भी हँस पड़ता तो वह स्वयं भी फूट पड़ते। अश्रु और हास का ऐसा मुक्त और विलक्षण तारतम्य क्या किसी ने देखा होगा। वह वास्तव में सच्चे सहृदय थे। कतिपय करुणापूर्ण कथाओं को तो वह सुन भी नहीं सकते थे। मुझे याद है, एक बार उन्होंने मुझे उत्तर - राम - चरित को पढ़ने से हठात् रोक दिया था। अभिज्ञान - शाकुंतल भी वह वहीं तक सुन सकते थे जहाँ तक कथा-प्रसंग सुखमय है। दुष्यंत के प्रत्याख्यान के शब्दों को सुनकर तो वह क्रोध से जैसे पागल हो जाते थे।

मैं हिंदी का विद्यार्थी रहा हूँ, कदाचित् उसका भक्त भी। मेरी भक्ति देव-मंदिर के संपूर्ण व्यवस्था-भार एवं दायित्व को वहन करने वाले न तो किसी गद्दीधर की रही है और न सेवा-सत्कार में संलग्न सेवकों की। आरती के समय मंदिर के घंटा-घड़ियाल आदिक मंगल-वाद्यों की ध्वनि से आवाहित वा आकृष्ट प्रसाद-लोलुपों की कोटि में ही मैंने अपने आपको सदैव रखा है। भारती के इस परम पवित्र मंदिर के महा-प्रसाद रूप वाङ्मय का आनंद-लाभ मैं यत्नपूर्वक करता रहा हूँ प्राचीन का भी और नवीन का भी। उसके कबीर, जायसी, सूर, तुलसी और मीरा मेरे अध्ययन के रोचक अंग रहे, किंतु इसके साथ, और कदाचित् उतनी ही रुचि के साथ मैंने पढ़ा उसके प्रसाद, निराला, पंत और महादेवी को। मैं जब कभी विद्यालय या विश्व-विद्यालय से छुट्टियों में लौटता तो ताऊ उत्सुकता से मेरी झोली को तलाश करते और देखते कि उसमें क्या-क्या भरा है। वह रत्नों के पारखी थे और उन्हें रत्नों की अविरत तलाश रहती थी। वह मेरी लाई हुई चीज़ों को - विविध कविताओं को, एक-एक कर परखते, कंकड़-पत्थरों को छाँटते और रत्नों को अलग कर हृदय में धारण करते। उलझन और कठिनाइयों के होते हुए भी मुझे अवगुंठन-प्रिय महादेवी रुचतीं और मुझे महान आश्चर्य होता जब ताऊ भी वहीं रुकते। देवी जी के मार्मिक

शब्द-चित्र उनके हृदय-पटल पर ज्यों के त्यों अंकित हो जाते और उनकी मधुर उक्तियाँ उन्हें झकझोर जातीं। वे आनंद-विभोर हो जाते किंतु जब मुझे सहसा भान होता कि जिस व्यक्ति के सामने मैं—"बीन हूँ मैं, तुम्हारी रागिनी भी हूँ।" वा "मैं आँखों में पाल रही हूँ यह सपना सुकुमार किसी का" आदि पढ़ रहा हूँ वह आज कल की भाषा में नितांत अज्ञ और अपठित व्यक्ति है--केवल मिडिल पास और वह भी उर्दू मिडिल - तो मैं विस्मय से अभिभूत हो जाता। मैं इस विचार में डूब जाता कि आखिर इस सभ्य संसार से विच्छिन्न और आधुनिक शिक्षा से बहिर् इस भोले-भाले ग्रामीण के पास वह कौनसा खजाना है, हृदय वा मस्तिष्क की वह कौनसी नैसर्गिस वा उपार्जित संपत्ति है जो इसे कठिन से कठिन स्थिति में भी देवालिया होने से बचा लेती है। उनके जीते जी मैं इस रहस्य को अवगत न कर सका किंतु उनके महा-प्रस्थान के प्रायः दो वर्ष बाद जब मैंने भगवान् वेद व्यास-प्रणीत महा भारत का अनुशीलन किया जिसे वह पढ़ चुके थे और प्रायः पढ़ा करते थे, विशेषकर शांति-पर्व तो मैंने समझा कि वस्तुतः—

"धर्मे ह्यर्थे च कामे च मोक्षे च भरतर्षभ।
यदिहास्ति तदन्यत्र, यन्नेहास्ति न तत्क्वचित्॥"

वाली उक्ति कितनी यथार्थ है!

अतः विचारों की ऐसी विस्तृत भूमि और भावनाओं के ऐसे उत्तुंग शिखर पर खड़े हुए इस अद्भुत व्यक्ति के ज्ञान का क्षेत्र कितना व्यापक था इसे जानकर आज मुझे तनिक भी आश्चर्य नहीं होता। सचमुच, घोंसला बनाकर रहने वाली चिड़िया उजाड़ मरु-भूमि में भी तिनके बटोर लेती है, किंतु आलसी और बेढंगे पक्षी हरे-भरे उद्यानों में भी सूनी डालों पर बसेरा लेते हैं। निदान ताऊ साहित्य के अनन्य प्रेमी और अथक स्वाध्यायशील व्यक्ति थे। उन्हें नाम और रूप का मोह नहीं था। संस्कृत, फ़ारसी, हिन्दी और उर्दू आदि जिस किसी साहित्य का भी कोई उत्तम ग्रंथ उन्हें मिलता वह उसे पढ़ने-पढ़वाने की चेष्टा करते और अर्थों को हृदयंगम करते। साहित्य रूपी महा सागर को पान करने की सतत प्रेरणा करने वाली यह अतृप्त पिपासा उन्हें कहाँ से प्राप्त हुई इसे कौन जानता है?

ताऊ क्या साहित्य और क्या जीवन दोनों में किसी खोई हुई चीज की तलाश करते रहते थे। उनकी आत्म अहर्निशि उस अभाव की चिंता में मग्न रहती। वह जीवन और जगत के कारणभूत, सर्वान्तर्यामी परम पिता परमेश्वर के दर्शनों के इच्छुक थे। वह इतना तो जानते थे कि ईश्वर है और एकमात्र वही पूजनीय है। हम सब उसके सेवक हैं। जीवन का चरम लक्ष्य ईश्वर की प्राप्ति है। और वह भक्ति के द्वारा प्राप्य है। मुझे पता नहीं कि दुनिया में प्रचलित असंख्य मत-मतांतरों में किससे उनके बिचारों की संगति बैठती थी, क्यों कि उनके जैसे स्वतंत्र और उदार विचारों के व्यक्ति को किसी संप्रदाय की परिधि में बाँधना कठिन था। ईश्वर-प्राप्ति के उपाय जानने की इच्छा से वह हर जाति और हर धर्म के व्यक्ति से मिलते थे। हिंदु हो या मुसलमान, साधु हो या संन्यासी, आर्य-समाजी हो या सनातनी वह निस्संकोच हर किसी के संपर्क में आते और उससे वही अपना एकमात्र प्रश्न करते "ईश्वर की प्राप्ति कैसे हो ?" उत्तर होता, "एकाग्र मनसे उसका स्मरण करने से।" "मन की एकाग्रता कैसे संभव है ?" उत्तर होता, "विषयों की विरक्ति से।" ताऊ निराश होकर कहते - " बस यही तो मुश्किल है !"

उनके इस प्रश्न के न जाने कितने व्यक्तियों ने कितने प्रकार से उत्तर दिए किंतु उनका समाधान कभी हो न सका। इसका कारण था उनकी यह धारणा ही नहीं अपितु अटल विश्वास था कि यदि गुरु सच्चा और उच्च कोटि का साधक हो तो चतुर मल्लाह के समान जीवन के बेड़े को अनायास पार कर सकता है। एक बार एक ऐसे ही साधक का संसर्ग उन्हें प्राप्त हुआ था। जब उन्होंने प्रश्न किया कि क्या ईश्वर है ?" और साधक ने उत्तर दिया - "हाँ है। देखेगा ?" ताऊ बोले हा महाराज देखूँगा। साधक बोला - "अच्छा देख। पर एक बात है बच्चा, फिर लौटकर घर नहीं जा सकेगा।" ताऊ घबरा गए और सोच-विचार में पड़ गए। वह इतने बड़े त्याग के लिए तैयार नहीं थे बात वहीं खत्म हो गई। प्यासा नदी के किनारे पहुँच गया किंतु प्यासा ही लौट आया। तब से आजीवन वह इसके लिए भटकते ही रहे। चार - चार छः - छः कोस तक भी सुनते कि कोई महात्मा आया है तो ताऊ वहीं पहुँच कर दम लेते थे।

एक बार गढ़ के गंगा-स्नान के मेले पर उन्हें एक साधु मिला। वह उसके पीछे हो लिए। जहाँ जहाँ वह जाता ताऊ उसके पीछे-पीछे जाते। निदान संध्या होने पर दोनों बस्ती से बाहर एक निर्जन स्थान पर पहुँच गए। महात्मा ने पूछा—"बच्चा क्या चाहते हो?" ताऊ बोले—"महाराज चाहता क्या हूँ, किसी प्रकार से मेरा भी उद्धार हो!"

महात्मा के मुख से तेज झलक रहा था। उसकी आँखों से आँखें मिलाना दुष्कर था। वह बोले—"अच्छा कल।" बड़ी बेचैनी से रात कटी। दिन निकला और ताऊ व्यग्रतापूर्वक इस बात की प्रतीक्षा करने लगे कि महात्मा जी क्या बतलाते हैं। सूर्य उदित हुआ और महात्मा जी जो उससे पूर्व ही नित्य-कर्मों से निवृत हो चुके थे अपलक दृष्टि से सूर्य की ओर देखने लगे। एक प्रहर इस प्रकार बीत गया। न कोई प्रश्न और न कोई उत्तर। ताऊ के लिए यह स्थिति असह्य हो रही थी किंतु विवश थे। क्या करते। वह महात्मा जी की यौगिक क्रिया से चमत्कृत थे किंतु संतुष्ट नहीं। मुमुक्षु को इन बाहरी आडंबरों से क्या प्रयोजन था। आखिर ताऊ ने ही निस्तब्धता भंग करते हुए पूछा—"महाराज मेरे लिए क्या आज्ञा है?"

"आज्ञा?...आज्ञा क्या? अभी तुम समझे नहीं?"

"महाराज मैं क्या समझा? अभी आपने बतलाया ही क्या है मुझे?"

"बस यही तो जो मैं कर रहा हूँ।"

ताऊ अभिप्राय समझ गए। वह निराश होकर घर लौट आए। भला जिसकी आत्मा मानव-जीवन के चिर अभीष्ट और चिर-साध्य परमेश्वर के लिए भटक रही थी उसे हठयोग की किसी साधारण क्रिया से भला क्या संतोष होता? सच्चे भक्त के लिए सिद्धियों का क्या मूल्य हो सकता है? उसका लक्ष्य तो सदैव वही सत्ता होती है जिसके आगे यावत् सिद्धियाँ हाथ जोड़े खड़ी रहती हैं।

जहाँ तक मैं समझता हूँ ताऊ के धार्मिक विचार कबीर, नानक और दादू आदिक संतों से अधिक साम्य रखते थे। उनसे भिन्न यदि कुछ विरोधी बातें उनमें थीं तो वे निश्चय ही उन्हें विरासत के रूप में

मिली थीं। उनके पिता और पितामह आदि परंपरा से राव साहब कुचेसर के पुरोहित थे। जो हो, किंतु ताऊ की धार्मिक उदारता अटल और अपने ढंग की निराली थी। "एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति।" का रहस्य उन्हें अवगत था। संसार के प्रत्येक धर्म को वह ईश्वर-प्राप्ति का सच्चा और सुंदर मार्ग समझते थे। उन्हें किसी संत की यह उक्ति बड़ी प्रिय थी :—

"धर्म तो एक है। उसकी अनेकता शैतान की पैदा की हुई है।"

वह मंदिर जाते किंतु पूजन के लिए नहीं, शांति, एकांत और उपासना के योग्य पवित्र स्थान समझकर ही। पूजा के लिए मंदिर या मस्जिद में उनके लिए कोई भेद न था। उपासना में भी वह भाषा के नहीं भावों के क़ायल थे। मैंने कितनी बार उन्हें भक्ति-विह्वल भावों से गज को ग्राह से छुड़ाने और द्रोपदी की रक्षा करने वाले भगवान् का स्मरण करते-करते—या रहीम...या करीम या हयी क़य्यूम...या मालिके मुल्क...आदि कहते-कहते मुसलमानों की तरह सिजदा करते देखा था। धार्मिक संकीर्णता को वह धर्म का नहीं, पाखंड, स्वार्थपरता और जहालत का कारण समझते थे और इस प्रकार के लोगों से दूर भागते थे।

महात्मा कोई भी हो, किसी भी धर्म वा संप्रदाय का हो, किसी भी वेश में हो, उसे देखते ही उनका मस्तक श्रद्धा से अवनत हो जाता था। तत्काल सेवा के लिए प्रस्तुत होते और रुखा देखते तो उनसे बातचीत करने का साहस करते। महात्माओं को वह धृष्टता वा कुतर्क का लक्ष्य कदापि न समझते थे। वह उनसे डरते थे। कहा करते थे—"क्या पता चलता है, इसी वेश में न जाने कितने सिद्ध महात्मा घूमते हैं।" महात्मा तो क्या, साधारण भीख-मिखारी के लिए भी उनके हृदय में पर्याप्त स्थान था। वह उदार थे, किंतु अकिंचन। पैसा-टका रखना तो वह जानते ही न थे और न कभी रखा। किंतु, उनके रहते कोई भूखा प्यासा उनके द्वार से निराश न लौटता था। अपने आप घर में जाते और बिना किसी की प्रतीक्षा किए अपने हाथ से रोटी आदि निकालकर आगंतुक के हाथ पर रख देते।

रुपये-पैसे में ताऊ की आसक्ति बिलकुल न थी। वह उससे जीवन भर निर्लिप्त रहे। कहते हैं भिक्षु किंवा संन्यासी को द्रव्य का स्पर्श

नहीं करना चाहिए। जाने कैसे संन्यासी होते हैं वे ? आज तो सर्वत्र ऐसे संन्यासी दिखलाई देते हैं जो द्रव्य-संग्रह, वृद्धि और उपभोग में गृहस्थिओं के कान काटें। उनके मठ-मंदिर, आश्रम-आवास और सेवक-श्रद्धालुओं की भीड़ देखकर महाराज और महाराजाधिराज में कोई अंतर नहीं जान पड़ता। ऐसा प्रतीत होता है मानों साधना लक्ष्मी-रूपा होकर उन्हीं के यहाँ विराज रही है। किंतु इसके विपरीत ताऊ नितांत निस्पृह और विदेहराज की साक्षात् मूर्ति थे। उन्होंने जीवन भर न तो कभी रुपया-पैसा रखा और न उसका हिसाब-किताब। यह सब काम बंधु किंवा मित्र और हितैषियों के जिम्मे था। आश्चर्य की बात तो यह थी कि सबसे बड़े और जिम्मेदार व्यक्ति होते हुए भी उन्होंने न तो कभी घर के शादी ब्याहों के तक़मीने लगाए और न अपनी ज़रूरत की कोई चीज़ स्वयं बाज़ार से खरीदी। आवश्यकता होती तो ज़िक्र कर देते और चीज़ बाजार से आ जाती। कपड़ों के बारे में भी यही आलम था। पहनते अपनी वजह का थे, वही पुरानी चीजें—धोती, कुर्ता, मिर्जयी और साफ़ा या टोपी—कपड़ा कुछ भी हो और कैसा भी सिला हो। बस तन ढकने से मतलब था।

हाँ ताऊ खाने-पीने के धनी थे। "शतं विहाय भोक्तव्यं" वाली कहावत उन पर पूरी तरह चरितार्थ होती थी। वह घी दूध के शौकीन थे। बाज़ार की चाट-पकौड़ी उन्हें पसंद न थी। वही तर माल—घी, दूध-दही, रबड़ी और मलाई। अतः भैंस उनके जीवन की एक अनिवार्य आवश्यकता थी और ईश्वर ने उनकी इस आवश्यकता को जीते-जी पूरा भी किया। रुचिकर चीज़ होती तो बड़े आनंद और बेतकुल्लुफ़ी से खाते और कहते—"भइया चीज़ अच्छी बनी हो तो जब तक बने गले से नीचे उतारे जाय पेट में पहुँच कर क्या होता है यह तो पेट जाने।"

एक बार की बात है। घर में नई भैंस आई। बारह सेर दूध था। ताऊ ने कहा—"आज हम इसकी सारी चीजें खाएंगे।" बस, खीर बनी, रबड़ी तैयार हुई। कच्चा दूध, दही और ताजा मक्खन सभी कुछ खाया गया और खूब छककर। खाने को तो खा लिया लेकिन हजम कौन करता ? बंद लग गया और ऐसे खाट में पड़े कि महीनों में सीधे हुए।

अस्तु, दूध के लिए भैंस, चढ़ने के लिए घोड़ी और पीने के लिए हुक्का यही तीन मानों उनके लिए त्रिवर्ग के समान थे। भैंस और घोड़ी उन्होंने हमेशा रखी और नरियल भी सदैव उनका अभिन्न साथी रहा। चमड़े की एक छोटी-सी बुकची जिसमें तंबाकू रहता और नरियल मंदिर को छोड़कर सदैव उनके साथ रहते थे। और घोड़ी, वह तो मानों उनका जीवन ही थी। दूर या नज़दीक कहीं भी जाते, घोड़ी के बिना चारा न था। जवानी में उन्होंने बड़ी-बड़ी घोड़ियाँ रखी थी किंतु बाद में वृद्ध और आर्थिक दृष्टि से परावलंबी हो जाने से छोटी घोड़ी से ही संतोष कर लिया करते थे। घोड़ी की देखभाल वह संतान के समान कितने हित से करते थे! नौकरों के होते हुए भी वह उसकी भूख प्यास की स्वयं चिंता करते। घास-दाना अपने सामने डलवाते और पानी पीती तो उसके घूँट गिनते रहते उन्हें भैंस या बैलों से प्रयोजन न था। उनके साथ तो केवल एक जिम्मेदारी सी निभानी थी।

घोड़ी का उन्हें चढ़ने भर का ही शौक न था बल्कि वह घोड़ों के पारखी भी थे। इस विषय में उनकी जानकारी गहरी थी। उर्दू और हिंदी के शालिहोत्र संबंधी जितने भी ग्रंथ उन्हें जीवन में सुलभ हुए उनको उन्होंने बड़ी लगन और बड़े मनोयोग से पढ़ा घोड़ों की जातियाँ, उनके विविध लक्षण, घोड़ों का पहचान आदिक विषयों की चर्चा वह अत्यंत रुचि और अधिकारपूर्ण स्वर से किया करते थे। अपने गाँव में या आस-पास कहीं कोई अच्छी घोड़ी आती तो उसे देखने लिए बेचैन हो जाते। कहीं बाहर दूर-दराज़ की घोड़ी गाँव से गुज़रती तो उसे बड़े अनुरोध से रोकते, देखते और प्रसन्न होते। वह कलाकार न थे किंतु घोड़ों के चित्र खींचने में बड़े प्रवीण थे। कभी मौज में आते तो काग़ज-पेंसिल लेकर बैठ जाते और तरह-तरह के घोड़ों के के चित्र खींचकर बच्चों को देते। एक बार घर में घोड़ी का प्रसंग आया तो हँसकर बोले—"मेरे मरने पर अगर जगदीश गाय पुन्न करे तो कह देना कि मैं घोड़ी के लिए कह गया हूँ।"

ताऊ बड़े लोक-प्रिय थे। अपने ही गाँव पहासू में क्या आस-पास कितने ही गाँवों में परिचित लोग उत्सुकता से उनकी बाट जोहा करते थे। उनकी सरलता में एक नैसर्गिक आकर्षण

था और उनकी साधुता उस आकर्षण को स्थायित्व प्रदान करती थी। यही कारण है कि जो उनके संपर्क में आता था वह सदा के लिए उनका हो जाता था। वह स्वयं भी आनंदमय थे और साथ ही अपने संसर्ग से वातावरण को आनंदमय बनाने की क्षमता रखते थे। जहाँ जाते लोग आदर और प्रसन्नता पूर्वक उनका स्वागत करते। यों वह प्रायः पहासू ही रहते थे किंतु जब-तब बाहर भी जाना पड़ जाता था। अधिक दिन हो जाते तो गाँव में उनकी याद होने लगती। बच्चों के लिए हँसने-बोलने वाला और बड़ों के लिए हुक्के का साथी न रहता। रात की निस्तब्धता को रह-रह कर भंग करने वाली "राधा...कृष्ण!" की आवाज़ें भी किसी को न सुनाई देतीं। ताऊ लौटते तो सभी शिकायत करते—"ताऊ अबकी तो तुमने इतने दिन लगा दिए!" ताऊ केवल हँस देते।

ताऊ आनंद और उल्लास से भरी हुई एक सजीव कहानी थे। वह प्रायः बच्चों में बैठना पसंद करते थे। उनमें बैठकर वह इस प्रकार बच्चे बन जाते थे कि देखने वालों को आश्चर्य होता था। दर्प और अहंकार से भरा हुआ युवक, चिंताओं से पीड़ित गृहस्थ तथा रोग और मृत्यु-भय से आकुल वयोवृद्ध सभी उन्हें यदि बुरे नहीं मालूम होते थे तो अच्छे भी न लगते थे। अस्तु, सदा बच्चों से घिरे रहना और हँसते खिलखिलाते रहना यही उनके जीवन का नित्य-क्रम था। कोई आकर उनसे अपनी क़लमें बनवा रहा है, कोई किताब पढ़कर सुना रहा है और कोई घोड़ी पर चढ़ने का आग्रह कर रहा है अवकाश-प्राप्त जीवन में समय व्यतीत करने की समस्या कैसी विषम होती है इसका अनुभव उन्हें कभी न होता। कुछ गिने-चुने अवसरों को छोड़कर चिंता और विषाद की रेखाएँ कभी उनके मुख पर नहीं आईं। सदैव ऐसा प्रतीत होता था मानों आनंद और उल्लास का कोई मूर्तिमान महासागर अपनी मौजों से खेल रहा हो!

ताऊ अपनी अवस्था के लिए अपवाद थे। जरा ने कुछ साधारण बाहरी परिवर्तनों के सिवाय और कोई विशेष प्रभाव उनके व्यक्तित्व पर न डाला था। उनके उन्नत ललाट, गोल भरे हुए स्वास्थ्यपूर्ण चहरे और चढ़ी हुई कटारदार मूँछों के पीछे शैशव लुकछिपकर बैठा रहता।

उनकी सरलता, उनकी निष्कपटता, उनका औत्सुक्य और उनकी जिज्ञासापूर्ण कौतूहल सभी बातें बच्चों जैसी थीं। उन्हें बच्चों की तरह ही हर बात के जानने, सुनने और देखने की अदम्य इच्छा होती थी। वह जिस प्रकार फकीरों, साधु और महात्माओं से मिलते के उसी प्रकार चोर डाकू और बदमाशों से मिलने की भी उन्हें उत्सुकता होती थी। यह इसलिए नहीं कि उन्हें किसी से चोरी या डकैती की दीक्षा लेनी थी बल्कि वह जानना और देखना चाहते थे कि ये जघन्य और राक्षसी कर्म किस प्रकार संपन्न होते हैं। इस बालोचित औत्सुक्य के कारण वह कितनी ही बार कठिनाई में पड़ गए थे।

एक दिन पड़ौस के गुसाई मुंशीगिर आधी रात के समय घर से निकले। कंधे पर लट्ठ और हाथ में गंडासा लगा था। ताऊ ने देखा और चुप लगा गए। दूसरे दिन शाम के समय जब मुंशीगिर मिले तो ताऊ बोले—"भई मुंशीगिर जो बुरा न मानों तो एक बात पूंछूं। "मुंशीगिर ने कहा — "आँहाँ ताऊ पूछो। जो चाहो सो पूछो।" ताऊ बोले - "भइया ये बताओ रात कहाँ गए थे ? उस समय तो मैंने तुम्हें इसलिए नहीं टोका कि नाहक तुम्हारा रास्ता खोटा हो।" आग लग गई गुसाई जी के। जो व्यक्ति उन्हें सरासर चोर और बदमाश ही समझ बैठा हो उसे वह सफाई भी क्या देते और कैसे विश्वास दिलाते कि कल रात पानी का बार था और इसलिए वह अपने खेतों पर जा रहे थे। झुंझलाकर बोले - "ताऊ अच्छा हुआ जो आपने न टोका नहीं, नहीं तो मैं अपने औजार की जाँच पहले यहीं करता।

एक बार ताऊ कचहरी में आपस के लोगों में बैठे हुए बोले - "भई हमने कोई कातिल नहीं देखा। "थोड़ी ही देर बाद जब ताऊ काम से इधर-उधर गए तो उन्हें अकेला देखकर एक अपरिचित लंबा-तड़ंगा व्यक्ति सहसा उनके पास आकर खड़ा हो गया और बोला - "कहिए दिवान जी, क्या काम है ?" ताऊ ने चौंककर पूछा - "कैसा काम भइया ?" "वाह साहब, आप अभी तो कह रहे थे कि कोई कातिल...।" हरे राम ! मुझे क्या काम होता भइया, मैं तो सिर्फ देखना चाहता था।"

"अच्छा तो फिर देख ही लीजिए।"

"क्या तुमने ऐसे काम किए हैं ?" ताऊ ने भय और विस्मय से पूछा।

"बीसियों !" और यह कहकर आगंतुक तेजी से एक ओर जाकर दृष्टि से ओझल हो गया !

—:— —:— —:—

एक बार ताऊ रेल में बैठे हुए कहीं बाहर जा रहे थे। यात्रियों की पारस्परिक बातचीत में बिन्नोट और लेजम का जिक्र आ गया। बोले - "हाँ किस्से तो बहुत सुने हैं पर कोई बिन्नोट जानने वाला देखा नहीं।" संयोग से पास ही एक जानकार बैठा हुआ था। बोला "मायूस क्यों होते हैं साहब, खादिम पास ही बैठा है।" ताऊ कौतूहल-पूर्ण दृष्टि से वक्ता की ओर देखने लगे और बोले - "क्यों साहब आपके हाथ में लाठी, हर्बा-हथियार कुछ न हो फिर भी आप दूसरे आदमी को कैसे काबू में कर लेते हैं ? दिखलाइए हमें भी कोई हाथ।"

"क्यों नहीं साहब !" इतना कहते ही उस व्यक्ति ने सहसा ताऊ का गला पकड़ लिया और जरासे इशारे से कोई ऐसी नस दबा दी कि ताऊ की आँखें निकल आईं और मालूम हुआ कि मानों अब प्राण निकले। उन्होंने बड़ी मुश्किल से हाथ का इशारा करके उससे अपना गला छुड़वाया और फिर दस-पाँच दिन की सिकाई के बाद कहीं ठीक हुए।

—:— —:— —:—

खलिहानों में नाज पड़ा था। ताऊ चौबीसों घंटे वहीं पड़े रहते और उसकी रखवाली करते। किंतु नाज बराबर कम हो रहा था। उनके और एक नौकर झुंडी के अलावा तीसरा कोई आदमी वहाँ झाँकता तक नहीं था। ताऊ हैरान थे। बहुत सोचने विचारने पर भी गुत्थी सुलझती नहीं थी। हार कर बोले - "झुंडी ले तो जाता है नाज तूही, क्यों कि और तो यहाँ कोई आता ही नहीं, पर यह बता कि ले कब जाता है। मैं तो हर वक्त यहीं रहता हूँ। भगवान् कसम, मैं तुझसे कुछ कहूँगा नहीं।" झुंडी शरमाता हुआ बोला - "बाबा जब तुम भजन करने बैठते हो तब ले जाता हूँ।"

ताऊ जैसे आसमान से गिर पड़े। बोले - "अरे अधर्मी तूने मुझे अब इस काबिल भी न रहने दिया कि मैं घंटे आध-घंटे भगवन् का नाम भी लेलूं।" झुंडी ने लज्जित होकर उनके पैर पकड़ लिए और बोला - "बाबा ईश्वर की सौंगंध, दुनियाँ के चोरी करूंगा पर अब तुम्हारी चीज से हाथ न लगाऊंगा।

—:— —:—

ताऊ का भोलापन भी चरम कोटि का था। संसार की सामान्य और नित्य व्यवहार में आने वाली कितनी ही चीजों से वह नितांत अनभिज्ञ थे। एक दिन की बात है। ताऊ लायक राम की दूकान पर बैठे थे। पीछे कोई एक पैसे का तंबाकू लेने आया। पहले तो ताऊ उसे रोके रहे किंतु जब लायक राम को लौटने में देर हुई और गाहक भी जल्दी मचाने लगा तो बोले - "अच्छा मैं ही देदूँ। बता कितना दिया करता है लायक - राम।" गाहक ने झट से पौवा उठाकर तराजू में रख दिया और बोला - ताऊ इसी से देते हैं। तोल दो।" बाद में लायक राम के आने पर मालूम हुआ कि उन्होंने एक पैसे में गाहक को चार पैसे का तंबाकू दे डाला।

—:— —:—

इस प्रकार ताऊ सबको हँसते-खिलाते सुखपूर्वक गाँव में अपना समय व्यतीत करते थे। यद्यपि उनके प्रशंसकों की संख्या अपरिमित थी किंतु दुर्भाग्य से निंदकों का भी नितांत अभाव नहीं था। हो भी नहीं सकता, क्यों कि मनुष्य तो क्या ईश्वर भी इन जीवों के फंदे से नहीं छूटता। इन्हें सदैव और सर्वत्र सुलभ जानकर ही गोस्वामी तुलसीदास ने मानस के आदि में उनकी नम्रतापूर्वक वंदना की है। हाँ कबीर अलबत्ता इनकी प्रशंसा करते हैं और साथ ही उन्हें आँगन में कुटी छवाकर आदरपूर्वक रखने का अनुरोध भी। वस्तुतः जीवन की यथार्थ उन्नति और सच्चे सुख के लिए निंदकों की उपादेयता का मूल्य कम नहीं। जिसने रात न जानी वह दिन को क्या जानेगा। अस्तु, ताऊ सरल, निष्कपट, भोले और हँसमुख सभी कुछ थे किंतु कुछ लोगों की दृष्टि में वह तो भी "बड़े बने हुए" और न जाने क्या क्या थे। ठीक है - "महिमा मृगी काहि सुकृती की खल बिसिखन सों बाँची।"... ताऊ इन चीजों की कभी परवाह नहीं करते थे। हँसकर कहते - "अरे यह दुनिया है। अगर लंका में विभीषण हो सकते

हैं तो अयोध्या में मंथरा भी। मुँह कुचला जा सकता है पर किसी की जबान नहीं पकड़ी जा सकती। कहने दो, मेरा क्या जाता है ?"

हाँ घर का वातावरण भी उनके विशेष अनुकूल न था। इसका कारण था घरवालों के प्रति उनका कठोर व्यवहार। वह बाहर वालों के लिए जितने सदय और सहृदय थे, घरवालों के लिए उतने ही रूखे और विकराल थे। घर के बीच में उनकी सत्ता स्वेच्छाचारी सम्राट् जैसी थी। मजाल क्या जो आधी बात भी उनकी मर्जी के खिलाफ हो जाय। एक तूफ़ान उठ खड़ा होता और जो सामने आता उसी की हंटर से खबर लेते। फिर उन्हें यह विवेक न रहता कि पिटने वाला कौन है, वृद्धा पत्नी, जवान बेटा, बहू या निर्बोध बालक। घर के अक्षम्य अपराधों का एकमात्र निर्णय-कर्ता उनका हंटर ही था जो उनकी सहायता के लिए सदैव प्रस्तुत रहता था। वह एक ऐसा न्यायालय था जहाँ न तो स्पष्टीकरण की आवश्यकता थी और न अपील की गुंजाइश।

अतः उनका हंटर केवल घोड़ी के लिए ही न था बल्कि घर के सभी आदमियों की खबरगीरी रखता था। हंटर देवता की उपासना दिन में कई कई बार घर के हर एक व्यक्ति को करनी पड़ती थी, और इस लिए कभी कभी उसे फेंकने या छिपाकर रखने की चेष्टा भी की जाती थी, किंतु आखिर इष्ट-देव ठहरा। जाता कहाँ ?

और लो एक दिन शिशिर की सूनी संध्या अकस्मात् ताऊ के भावी अवसान का करुण संदेश लेकर उपस्थित हुई। वह घोड़ी पर सवार होकर बाहर निकले थे। हंटर हाथ में था। थोड़ी दूर चलकर घोड़ी तेज़ करने के लिए उसका प्रयोग किया ही था कि असावधानी के कारण उसकी फुलक ताऊ की पिंडली में लग गई। धीरे-धीरे जगह पक गई और बड़ा जख्म हो गया। गाँव के छोटे अस्पताल में आपरेशन कराया पिंडली से एड़ी तक का गोश्त छीलकर हड्डी साफ़ करदी गई! शक्ति का क्षय हो गया। छः महीने चारपाई पर पड़े रहे। फिर घुटनों में दर्द होने लगा। मृत्यु से एक मास पूर्व फालिज पड़ा, दूध पीना तक बंद हो गया। जिस हुक्के के बिना जीवन सूना था वह सामने खूंटी पर टँगा हुआ दीखता था, पर पी न सकते थे। बीस रोज़ पहले घोड़ी के बंद लगा और वह चल बसी। फिर क्या था, जी टूट गया। कहने

लगे "अब हम भी चल ही देंगे। जब घोड़ी ही न रही तो हम भी रह कर क्या करेंगे ?" हंटर अपने सामने सिरहाने रखवा लिया। और आदेश दिया कि "हुक्का और हंटर - मेरी वसुधा मेरे साथ अर्थी पर होगी !" और वही हुआ।

२३ दिसम्बर के दिन ताऊ ने सबके देखते देखते महा प्रस्थान की तैयारी करदी। गाँव के बाहर काली नदी के तीरवर्ती महास्मशान में क्षणभंगुरता का सस्वर आलाप करती हुई उनकी चिता धधक उठी। ताऊ के नश्वर शरीर के साथ जल रहे थे उनके अभिन्न जीवन-साथी हुक्का और हंटर। जो कुछ उनका था, वह उनके साथ जा रहा था किंतु उनकी स्मृति ?.....वह शायद उनके साथ न जा सकी। क्यों कि वह आज भी गाँव के कण-कण में विद्यमान है !

—:—

इलाहाबाद
१—६—५३

: १६ :

स्वर्ण-विहग-सवैया !

जिसे पिता-सूर्य ने सानुग्रह दिया था,
उसे पुत्र शनि ने हठपूर्वक ले लिया !

मेरे आँगन में एक चंदन का वृक्ष था। इतना सुन्दर कि देवोद्यान के अशोक, वकुल और पारिजात भी उसके समक्ष हेय थे। चंपे के समान उसकी सुकोमल डालियाँ वायु के प्रत्येक आलोड़न के साथ स्पंदित होकर थहर-थहर नाचा करती थीं। उषःकालीन आभा से युक्त उसके दिव्य कांत कलेवर पर असंख्य हरित पत्रों का आच्छादन ऐसा प्रतीत होता था मानों जगमग करती हुई किसी हीरक और पुष्पराग की डेरी को मरकत मणियों की अपार राशि ने आत्मसात् कर लिया हो। वह सदैव हरा-भरा रहता था। उसकी मधुर मादक गंध से घर का संपूर्ण वायु-मंडल सुवासित हो जाता था। वह चंदन का वृक्ष था किंतु उसके मूल में किसी विषधर का वास न था !

प्रायः डेढ़ वर्ष पूर्व एक दिन की बात है जब शिशिर ने कंप नीहार और बचे-कुचे जीर्ण पत्रों की गठरी बाँधकर तेज़ी से क्षितिज की ओर पलायन किया और दक्षिण पवन ने कौतूहल एवं उत्सुकता से आकर चुपके से प्रकृति के कान में किसी के आगमन का शुभ संदेश सुनाया...उस समय जब कि कोयल का मधुर कंठ अनायास मुखरित हो उठा और फूलों ने राशि-राशि सौरभ को उन्मुक्त होकर लुटाना आरंभ कर दिया, ठीक उसी समय संध्या के प्रायः चार बजे किसी

सुदूर लोक से उड़कर आती हुई एक सुंदर सोने की चिड़िया उस वृक्ष पर बैठ गई। अक्समात् मेरी दृष्टि गई और मैं ज़ोर से चिल्ला उठा—"अह्हा देखो मेरे चंदन के पेड़ पर यह सोने की चिड़िया।"

मैं धीरे-धीरे उसकी ओर बढ़ा और बड़े प्यार से पुचकार कर उसे अपने पास बुलाया। उसने मेरा आमंत्रण स्वीकार किया और वह निस्संकोच आकर मेरे हाथ पर बैठ गई। सब लोग चकित होकर देखने लगे। मेरे आनंद की सीमा न थी।

मैंने उसे सोने के पिंजड़े में रखा, खिलाया और खूब प्यार किया। मन की जितनी भी शक्ति थी सब अनायास उसकी ओर केंद्रीभूत हो गई। उसका एक क्षण का भी विच्छेद मुझे असह्य हो जाता था। अचिरात् वह मुझसे इतनी हिल-मिल गई कि आवश्यक कामों को छोड़कर मेरा प्रायः सारा समय उसी के साथ व्यतीत होता था। वह मेरे साथ उठती-बैठती, खाती-पीती और खेलती-कूदती थी। संध्या के उपरांत जब पश्चिम का पथिक दृष्टि से ओझल होता और आकाश में पक्षियों के गोल चीत्कार करते हुए घर लौटते तो वह मेरी गोदी का आश्रय लेती। उसी समय सहसा रजनी के शिथिल अंचल से रत्नों की राशि बिखर जाती और चंद्रमा व्यर्थ उसे उठाने का उपक्रम करता तो मैं उसे उसकी ओर आकृष्ट करता और गुनगुनाता—

'दा मामा दूर के—दही पचौड़ी बूर के ..

उसका मुख-मंडल खिल उठता और उसकी छोटी-छोटी सुकुमार उँगलियाँ हर्षातिरेक से थिरकने लगतीं। धीरे-धीरे अंधकार प्रगाढ़तर होता और उसके साथ ही उसकी बड़ी-बड़ी सुन्दर आँखें झँपने लगतीं। तब वह मेरे ही ही वक्षस्थल पर लेटी लोरियाँ सुनती हुई प्रगाढ़ निद्रा में अचेत हो जाती थी।

दिन निकलता। हेमाभ रश्मियाँ प्राची का द्वार खोलकर उसके साथ खेलने के लिए स्वर्ग से चली आतीं। वे उसे जगने के लिए बाध्य करतीं और वह भी प्रकृति के स्वर में स्वर मिलाने के लिए हँसती-किलकिती

हुई उठ बैठती। शीघ्र ही सारा घर उसके कलरव से गुंजायमान् हो जाता था।

कैसी मोहक थी उसकी आकृति, कैसा मीठा था उसका गान! जो देखता था, ठगा-सा रह जाता था। उसका अप्रतिम सौंदर्य जड़ों में भी प्राणों का संचार करता था। उसकी निरीहता पाषाणों को भी द्रवीभूत करने की शक्ति रखती थी। वह खंजन-सी चंचल, शिरीष-सी कोमल और चंद्रमा-सी आह्लादक थी। वह विभूतियों का भंडार थी। पारस मणियों से जटित उसके लाल छोटे-छोटे चरण शत-शत ऋद्धियों के जनक थे। उसके संस्पर्श से आस-पास की धरा स्वर्णमयी हो जाती थी। पीयूष के समान सुखद उसका कल-कंठ श्रुति-पथों से हृदयों को आप्यायित करता था। बहुधा जब उसकी दिव्य आकृति पर शांति और गंभीरता विराजती और कौतूहल से भरी हुई उसकी आँखें रह-रह कर किसी अदृष्ट लोक की ओर ताकने लगतीं तो हम अवाक् होकर सोचने लगते कि क्या वह सचमुच किसी उच्च लोक की विभूति है?

और फिर उसके नाम रखने की बात चली। नाम क्यों न होता उसका? पक्षियों के शौकीन क्या अपने पालितों के नाम नहीं रखते? निदान सुन्दर सुन्दर नामों की एक बड़ी लंबी सूची तैयार हो गई। "मनीषा," "दीप्ति," "प्रभा," "करुणा," "शिप्रा" "विपाशा," और "सविता" आदि। मैंने कहा "वह हमारी चिंतामणि है, हमारे दुःख दारिद्र्य को दूर करने वाली कल्याणी है, अतः उसका नाम विपाशा होना चाहिए। "गृहिणी बोली "नहीं। यह भी कोई नाम है? सीधे-सीधे नाम तो रखने आते नहीं···शिप्रा और विपाशा! जानते नहीं वह रविवार को हमारे यहाँ आई है अतः उसका नाम सविता होना चाहिए। मैं हारा और वह जीतीं। हम उसे सविता, "सवि," "सवा और "सवैया" के नाम से पुकारने लगे।

धीरे-धीरे समय बीतता गया और हमें इस बात का विश्वास हो गया कि वह जीवन भर के लिए हमारे साथ है। ऐसे परम सौभाग्य के लिए भला कौन फूला न समाता। वह हमारे ऊपर अजस्र सुख की वर्षा करती थी और हम उसे प्राणों से अधिक चाहते थे। वह हमारी कामधेनु थी और हम उनके कल्पतरु थे। वह हमारे हर्षोल्लास

का साधन थी और हम उसके अमोद-प्रमोद के प्रधान उपकरण थे। दोनों ओर कितना सुख और अह्लाद था। मानों विस्तृत नील जलधि के ऊपर पूर्णिमा के चंद्रमा का उदय हुआ था। एक ओर शीतल रश्मियाँ सुविशाल तरंगों की गोद में खेलने के लिए आतुर थीं और दूसरी ओर तरंगें उन्हें अपनी गोद में लेने के लिए स्पर्धा के साथ आकाश की ओर उठ रहीं थीं।

यह सब कुछ था किंतु सहसा विधाता को मेरे इस सुख से ईर्ष्या होने लगी। संभवतः इसलिए कि उसे छोड़कर और कौन मुझे बतलाता कि सुख पर मेरा एकाधिकार नहीं। निदान जैसे दिन के बाद रात आती है ठीक उसी प्रकार दुःखों ने मुझे चारों ओर से घेरना आरंभ कर दिया। मेरे ऊपर विपत्तियों का पहाड़ टूटने लगा। किंतु यह इतने गुप्त और रहस्यपूर्ण ढंग से हुआ कि मुझे पता तक न चला। यों प्रस्तावना के रूप में अनागत का आभास मुझे कुछ बार मिला किंतु मुझे किसी प्रकार की आशंका वा उद्विग्नता नहीं हुई। मैं कुछ का कुछ समझता रहा। आए दिन बुरे स्वप्न दीखते। .. "कैसा समारोह है। नाच हो रहा है। नाना प्रकार के स्वादिष्ट भोजन हैं। और मैं खूब खा रहा हूँ।" आदि मुझे कुछ खटकता तो किंतु सोचता - बड़ी भाभी बीमार हैं। उन्हें जीर्ण ज्वर बतलाया है। कहीं उनकी तो तबियत ज्यादा खराब नहीं हो गई? ईश्वर उन्हें सकुशल रखे। ...किंतु हाय। भवितव्य को देखते हुए मेरी यह कल्पना कितनी मिथ्या थी। क्या आत्म-वंचना का इससे बढ़कर संसार में कोई दूसरा उदाहरण मिल सकता है? मैं कितना नादान था। मैं जैसे महाशून्य को आलोकित करने के लिए चंद्रमा की प्रतीक्षा करता था किंतु इस बात का पता न था कि मेरे पास का ही दीपक बुझा जा रहा है।

अस्तु, अज्ञान के उस घने अंधकार में एक दिन अकस्मात् शनि ने उसे चुपके से प्रत्यागगन का आदेश दिया। वह सुकुमार उसका विरोध कैसे करती। स्वयं प्रकृति ने इच्छा के विरुद्ध उसके उपादानों का अपहरण करना प्रारंभ कर दिया। ग्रीष्म ने उसे जलाकर खाक किया और अभागी वर्षा उसे बहाकर ले जाने लगी। उसका कंठ अवरुद्ध और उसका गान स्थगित हो गया। उसकी आकृति पर मृत्यु

की भयावह छाया दिखाई देने लगी किंतु वही स्वर्गिक दृष्टि और वही दिव्य मुसकान !

श्रावण मास की कृष्ण-पक्ष की द्वादशी थी। चारों ओर भयानक अंधकार फैला था। रह-रह कर उल्लुओं का कर्णकटु कोलाहल सुनाई देता था। हम कभी सोते और कभी जगते थे। हमारी उसी बेसुध अवस्था में वह सोने की चिड़िया पिंजड़े से मुक्त होकर, अपने दिव्य पंखों को फैलाकर, अनंत आकाश की ओर उड़ गई।

प्रातः उठे तो देखा पिंजरा खाली पड़ा है और चंदन का वृक्ष सूख रहा है !

—:—

मुजफ्फरनगर
२६—८—'४७।

: २० :

साकेत में कैकेयी

रामायण की कथा में दशरथ की भार्या कैकेयी का महत्वपूर्ण स्थान है। अयोध्याकांड के प्रारंभ में ही वह अकस्मात् प्रधानता प्राप्त करती और संपूर्ण कथा - प्रवाह को एक भिन्न दिशा की ओर मोड़ देती है। इससे एक ओर तो कथा-वस्तु को गति प्राप्त होती है, और दूसरी ओर उसके प्रत्येक पात्र को अपने चरित्र की वास्तविक महत्ता प्रकट करने का अवसर मिलता है। श्री मैथिली शरण गुप्त द्वारा रचित "साकेत" शीर्षक महाकाव्य की यह एक विशेषता है कि उसमें कैकेयी का चरित्र अत्यंत सहृदयतापूर्ण एवं मनोवैज्ञानिक ढंग से चित्रित किया गया है।

राज्याभिषेक की घटना के पूर्व कैकेयी का चरित्र उज्ज्वल और अनुकरणीय है। वह आदर्श माता, और आदर्श महिषी या सपत्नी है। पारिवारिक जीवन में वह मुक्त स्नेह, सहज शील और निष्कपट सारल्य का परिचय देती है। अनन्य सुंदरी होने के साथ-साथ वह वीर नारी भी है। देवासुर संग्राम में वह अपने प्राणों को संकट में डालकर पति की रक्षा करती है। वह वस्तुतः महाराज दशरथ की हृदयेश्वरी है। रघुकुल में जो गौरव और जो सम्मान उसे प्राप्त है वह राज-महिषी कौशल्या को नहीं। किंतु इतनी सत्ता और ऐसा सम्मान प्राप्त करके भी कैकेयी नितांत निस्पृह है। वह पति प्रेम को

छोड़कर और किसी वस्तु की आकांक्षा नहीं करती :—

नाथ कैकेयी के वर वित्त,
चीर कर देखो इसका चित्त।
स्वार्थ का नहीं वहाँ है लेश,
बसे हो एक तुम्हीं प्राणेश!

वह अत्यंत उदार है और मंथरा को उसकी विचार-संकीर्णता के लिए फटकारती है :—

हमारे आपस के व्यवहार,
कहाँ से तू समझे अनुदार!

उसे जीजी कौशल्या की सरलता में भरपूर विश्वास है। वह राम और भरत में कोई भेद नहीं देखती। राम उससे इतने हिले हैं कि बहुधा उसका स्वप्न देखकर भी चौंक उठते हैं :—

भला दोनों में है क्या भेद?
होने पर बहुधा अर्द्ध-रात्रि अंधेरी,
जीजी आकर करती पुकार थी मेरी।
लो कुहकिनि अपना कुहक राम यह जागा!
निज झँझली मां का स्वप्न देख उठ भागा!

"मानस", "अध्यात्म" और वाल्मीकि रामायण से भी उसकी सदाशयता का परिचय मिलता है।

मोपर करहिं सनेह विसेखी—मैं करि प्रीति परीक्षा देखी।
प्राण तें अधिक राम प्रिय मोरे—तिनके तिलक छोभ कस तोरे॥
—मानस॥

भरताधिको रामः प्रियकृन्मे प्रियंवदः
कौसल्यां मां समं पश्यन् सदा सुश्रूषते हि माम्॥
तस्यै दिव्यं ददौ स्वर्ण-नपुरं रत्नभूषितम्।
हर्षस्थाने किमपि कथ्यते भयमागतम्॥
—अध्यात्म रा०॥

यथा मे भरतो मान्यस्तथा भूयोऽपि राघवः ॥

—वाल्मीक रा० ॥

राम के अभिषेक की तैयारी पर हम कैकेयी में सहसा विचित्र परिवर्त्तन देखते हैं। वह अत्यंत निष्ठुर और कठोर हो जाती है। परंतु यह परिवर्त्तन परिस्थिति-जन्य है, स्वभाव-सिद्ध नहीं साथ ही इसमें अधिकांश हाथ मंथरा का है जो उसे बहकाकर गलत मार्ग पर ले जाती है।

परिस्थिति का सूक्ष्म विश्लेषण करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि महाराज दशरथ की राम के राज्याभिषेक के लिए इतनी उतावली करना राजनीतिक दृष्टि से संशयापन्न अवश्य है विशेषकर उस स्थिति में जब कि उनके दो-दो पुत्र बाहर हों। न केकय-नरेश के यहाँ कोई सूचना भेजी गई और न मिथिला-नरेश के यहाँ। यद्यपि वाल्मीक ने इसका कारण पुष्य नक्षत्र का योग लिखा है, पर मंथरा इस चीज़ को एक भयंकर कूटनीतिक चाल या षड्यंत्र समझती है। वह यह भी जानती है कि इस अभिषेक का अर्थ होगा कैकेयी और भरत की सत्ता का उन्मूलन और फलतः उसके अपने स्थान का स्खलन। राम की धाय से उसे जब इस समारोह की सूचना मिलती है तो उसे मन ही मन ईर्ष्या होती है। तब कैकेई को पाठ पढ़ाने के लिए चल देती है।

वाल्मीकि ने दशरथ की उस समय की मानसिक दशा का जो चित्र खींचा है उससे भी संदेह की पुष्टि होती है। वह दुःस्वप्न और उल्कापात से सशंकित हैं :—

अपि चाद्याशुभान्राम स्वप्ने पश्यामि दारुणम्।
सनिर्घाता महोल्काश्च पतिता हि महास्वना ॥

अयो० ४।२४॥

साकेत-कार भी कहता है :—

टूटकर यह तारा इस राब।
न जाने करे न क्या उत्पात ॥

यह जो कुछ है ठीक हो सकता है, पर यदि मन में कोई बात नहीं थी तो भरत जैसे उदार और त्यागी पुत्र पर उन्हें संदेह क्यों हुआ ? वाल्मीक लिखते हैं :—

विप्रोषितश्च भरतो यावदेव पुरादितः ।
तावदेव अभिषेकस्ते प्राप्तकालो मतो मम ॥
कामं खलु सतां वृत्ते भ्राता ते भरतः स्थितः ।
ज्येष्ठानुवर्ती धर्मात्मा सानुक्रोशो जितेन्द्रियः॥
किंतु चित्तं मनुष्याणामनित्यमिति मे मति ॥

अयो० ४। २५, २६, २७

और मंथरा भी इसी शस्त्र से कैकेयी के मर्म पर प्रहार करती है:—

भरत से सुत पर संदेह ।
बुलाया तक न उसे जो गेह ॥

जादू अपना काम कर गया। कैकेयी का मातृत्व छलक उठा और उसके साथ ही जली उसमें प्रतिकार की भयंकर दुर्भावना। क्या सरलता और साधुता का यही मूल्य है कि माँ और पुत्र दोनों का इस प्रकार तिरस्कार किया जाये और उन्हें संदेह का पात्र ठहराया जाय ? वह फिर भी दुर्दैव को कोसती है :—

अरे विश्वास विश्व-विख्यात ।
किया है किसने तेरा घात ?
भरत ने ?... वह है तेरी मूर्ति ।
राम ने ?... वह है प्राण स्फूर्ति ।
देव ने ?... वे हैं सदय सदैव ।
देव ने ?... हा घातक दुर्दैव ।

वह विषण्ण होकर कहती है :—

कहाँ था तू संशय के नाग ?
लगा दी किसने मेरे आग ?

उसे याद नहीं कि उसने या उसके पुत्र ने कभी निकृष्ट स्वार्थ का परिचय दिया हो अथवा राज्य की कामना की हो। उसने पति को

छोड़कर और किसी पदार्थ की इच्छा कभी नहीं की। और साथ ही उसका पुत्र भी नितांत निष्काम और उदार - चेता है :—

१. नाथ कैकेयी के वर चित्त।
चीरकर देखो उसका चित्त॥
स्वार्थ का वहाँ नहीं है लेश।
बसे हो तुम्हीं एक प्राणेश

२. तुम्हारा अनुज भरत हे राम,
नहीं है क्या नितांत निष्काम ?
जानते जितना तुम कुलधन्य,
भरत को कौन जानता अन्य ?

अतः भयंकर से भयंकर परिणाम की उपेक्षा करती हुई वह अपने प्रति किए गए अन्याय का प्रतिकार करने के लिए कटिबद्ध हो जाती है। हाँ उसे यह चिन्ता अवश्य है कि भरत उसके पक्ष में अवश्य रहे और उसके कार्य की सराहना करे :—

कहें सब मुझको लोभासक्त।
किंतु सुत हूजो तू न विरक्त॥

साकेत की कैकेयी और मानस, वाल्मीकि और अध्यात्म - रामायण की कैकेयी में इस जगह बड़ा अन्तर है। साकेत में कैकेयी क्षुद्र विचार और आशंकाओं से उतनी संचालित नहीं होती जितनी आत्म-सम्मान के भाव से। वह मनस्विनी है। उसे राम से कोई द्वेष नहीं और न उसे सपत्नी के भावी अत्याचारों की चिन्ता है। पर गोस्वामी जी का कहना है :—

जो सुत सहित करहु सेवकाई -- तौ घर रहहु न आन उपाई।

कदू विनतहि दीन दुःख तुमहि कौसिला देव।
भरत बंदि-गृह सेइहैं, राम लषन कर नेव॥

"वाल्मीकि" और "अध्यात्म रामायण" में भी इसी प्रकार के विचारों का उल्लेख है। "साकेत" में एक बात और है। उसमें

कैकेयी का विलासमय चित्र सामने नहीं आता। वह निस्वार्थ हो कर पुनीत मातृत्व की मर्यादा का पालन करती है। वह दशरथ की चिंता-मणिमाला है। इसके विपरीत वाल्मीकि, अध्यात्म और मानस के चित्र इतने रंगीन हैं कि वे कैकेयी को विलासिनी और दशरथ को स्त्रैण सिद्ध करते हैं। स्वयं कौशल्या भी दशरथ को "कैकेयीवशगः" और "कामुकः" शब्दों का प्रयोग करती है। और गोस्वामी जी तो उसे "सुमुखि सुलोचनि, पिकबचनि" आदिक शब्दों से भूषित करते हुए स्पष्ट ही "काम-कौतुक" का उल्लेख करते हैं।

अस्तु, साकेत में कैकेयी हमारे सम्मुख शारीरिक और मानसिक दोनों वैभवों से सम्पन्न होकर आती है। किंतु अभिषेककालीन परिस्थिति मंथरा के संयोग से उसे बरबस अधःपतन की ओर खींच ले जाती है। यह अस्वाभाविक नहीं है। मनुष्य अपनी ओर से स्नेह, सौजन्य और निस्पृहता का परिचय देकर भी जब दूसरे पक्ष से अवज्ञा और संदेह का पात्र बनता है तो उसका हृदय चीत्कार कर उठता है। वह उस आघात को सहन करने में असमर्थ होता है और अनुकूल स्थिति पाकर वह उसका प्रतिकार भी करता है। निदान उसने अपने पुत्र भरत के लिए राज्य प्राप्त किया और राम से चौदह वर्ष के लिए छुटकारा पाया। सब कुछ हुआ। दशरथ देवलोक और राम, सीता और लक्ष्मण बन चले गए। किन्तु राज्य-सुख और सत्ता का जो मधुर स्वप्न वह देख रही थी वह भरत के लौटते ही भंग हो गया। वह हत-बुद्धि हो गई। उसकी समझ में न आया कि वह क्या करे। जिस भरत के लिए वह निःशंक होकर जगत की कुत्सा का पात्र बनी थी उसने भी उसे ठुकरा दिया। वह पश्चात्ताप और आत्मग्लानि से जलने लगी। चित्रकूट पहुँचकर उसने अपने हृदय का भार हलका किया। राम से क्षमा-याचना की और भरत के निमित्त उससे अयोध्या लौटने का अनुरोध किया। जीवन में भूलें मनुष्य से ही होती हैं किंतु मुक्त और निष्कपट भाव से उन भूलों को स्वीकार करना और उनके लिए क्षमा-याचना करना महापुरुषों का कार्य होता है। और कैकेयी निस्संदेह महान् है। इस स्थल पर गुप्त जी ने कैकेयी की अंतर्दशा का बड़ा ही सूक्ष्म विशद और मार्मिक चित्रण किया है। कैकेयी ने अच्छा या बुरा जो कुछ किया था भरत

के लिए, अपने लिए नहीं। उसे पुत्र से ममत्व था। वह उसे नहीं खो सकती थी, उसकी प्रसन्नता में ही कैकेयी की प्रसन्नता थी! अतः उसने भरत की प्रसन्नता के लिए उस राज्य को तत्काल राम के चरणों में रख दिया और उनसे कातर होकर निवेदन किया :—

भागी हो तुम वत्स राम रघुवर भव भरके।
कैकेयी के दोष लिए तुमने गुण करके॥
ढोया जीवन-भार, दुःख ही ढाया मैंने।
पाकर तुमको किंतु भरत को पाया मैंने॥

—:—

प्रयाग
८-१-३६

:२१:

साहित्य में अनुकरण और मौलिकता

मनुष्य के मानसिक वैभव का नाम ही साहित्य है। जगत के रूपों और व्यापारों से उसकी अन्तवृत्तियों को संवेदना प्राप्त होती है, जिसके परिणाम-स्वरूप कहीं वह भाव-विभोर होता है और कहीं विचार-लीन! अपनी अनुभूति और चिंतन से वह जिन भावों तथा विचारों का संचय करता है उनका समुचित व्यक्तकिरण ही साहित्य का विषय है। इस प्रकार साहित्य के दो अंग हो जाते हैं, एक का आधार अनुभूति, है, दूसरे का चिंतन। दूसरे शब्दों में एक ललित साहित्य है और दूसरा उपयोगी।

उपयोगी साहित्य में हम तथ्य का निरूपण करते हैं और उसका लक्ष्य सत्य का अन्वेषण है। इसके लिए हम शुष्क चिंतन-पद्धति का आश्रय लेते हैं, और परंपरागत ज्ञान का निस्संकोच उपयोग करते हैं। क्योंकि उसके द्वारा हमें विचारों के विकास और वृद्धि में सहायता मिलती है। निर्दिष्ट की ओर चलते हुए हम जहाँ तक पहुँच जाते हैं वहाँ से आगे बढ़ना होता है, पीछे हटना नहीं। तात्पर्य यह है कि उपयोगी साहित्य में अनुकरण का प्रश्न नहीं उठता और न उसका कुछ मूल्य ही है। इस क्षेत्र में ज्ञान की वृद्धि ही मौलिकता है।

ललित साहित्य के अंतर्गत हम भावों का चित्रण पाते हैं। हमारी अंतर्वृत्तियां मूर्त रूप ग्रहण करके उस दशा पर पहुँच जाती हैं जहाँ हमें सौंदर्य के दर्शन होते हैं—उस सौंदर्य के जिसमें निजता के साथ-

साथ सार्वजनीनता अन्तर्निहित रहती है। और इसी सार्वजनीनता के कारण उसका दूसरों की भी तद्वत अनुभव होता है। कहने का तात्पर्य यह है कि यहां अनुकरण और मौलिकता परस्पर अचिंत्य रूप में गुथे हुए रहते हैं।

अस्तु, अनुकरण हमारी मूल वृति है। जीवित रहते हम उससे मुक्त नहीं हो सकते। जन्म लेते ही शिशु रोता है। उसे रोना कैसे आ जाता है?... यह जितना स्वाभाविक है उतना ही अनुकरणगत है। जननी प्रसव-वेदना के समय कदाचित उसे रोने की शिक्षा दे देती है। इस प्रकार अनुकरण की प्रवृत्ति से ही हमारे लोक-जीवन का प्रारम्भ होता है।

किंतु, प्रारम्भ ही क्यों?... हमें तो इस अनुकरण की परम्परा और भी प्राचीन मालूम होती है। स्वतः हमारा जीवन ही अनुकरण का परिणाम है। सृष्टि का विधाता भी अनुकरण-प्रिय है! उसने सूर्य और चन्द्रमा की सृष्टि पहले ही कल्प के समान की। श्रुति का प्रमाण है :—

"सूर्यां चन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्।" —ऋग्वेद।

और ईसाई-ग्रन्थ बाइबिल के अनुसार तो स्वतः मानव-शरीर की रचना ही अनुकरण के आधार पर हुई है। लिखा है :—

"और तब परमात्मा ने कहा—हम मनुष्य की रचना अपने आकार और रूप के अनुसार करें। अतः ईश्वर ने अपनी आकृति के अनुसार मनुष्य की रचना की।" —इंजील।

अस्तु, अनुकरण का क्षेत्र अत्यंत व्यापक है। जगत के विभिन्न कार्य तथा व्यापारों में हमें पद-पद पर उसके दर्शन होते हैं। मनुष्य का विधाता अनुकरण प्रिय है, स्वतः उसकी रचना अनुकरण के आधार पर हुई है, और उसके चारों ओर का वातावरण भी अनुकरण की लीला है। तब उस प्रवृति से मुक्त या अलिप्त रहना मनुष्य के लिए कैसे संभव हो सकता है!

और भी। साहित्यकार के समक्ष सहसा एक नवीन विषय आता है। उससे पूर्व उसके सम्बन्ध में उसने सुना ही नहीं है और विचार भी नहीं किया। केवल प्रतिभा के बल से वह उसका पांडित्यपूर्ण विवेचन करता है। उसके विचारों को मान्य और प्रमाणित कहकर लोग उसकी मौलिकता की सराहना करते हैं। परन्तु, उसकी मौलिकता वस्तुतः आंशिक सत्य है। लोक से पृथक उसके व्यक्तित्व की कोई सत्ता नहीं। जिन तत्वों से उसके व्यक्तित्व का निर्माण हुआ है उनमें संस्कार स्थिति और वातावरण का महत्वपूर्ण भाग है। और, क्योंकि उक्त तीनों वस्तुओं पर मनुष्य मात्र का सम्मिलित अधिकार है इसलिए किसी व्यक्ति की तथाकथित मौलिकता भी वास्तविक मौलिकता नहीं।

जिन कलाओं में बाह्य उपकरणों की अपेक्षाकृत अधिक सहायता ली जाती है उनमें अनुकरण का महत्वपूर्ण स्थान है। अथवा, यह कहना चाहिए कि कदाचित् अनुकरण के द्वारा ही कला की सृष्टि होती है। वास्तु-कला का सौंदर्य सादृश्य-विन्यास (सिमेट्री) है। उसमें भवन के दोनों पक्षों की समान रूप देने का उद्योग किया जाता है। एक ओर जैसी बनावट होती है ठीक वैसी ही दूसरी ओर भी रखी जाती है। इसी तुल्य-योग के द्वारा वस्तु में सौंदर्य का आविर्भाव होता है। इसी प्रकार मूर्तिकार और चितेरे के आदर्श भी अनुकरण-मूलक होते हैं। मूर्ति अथवा चित्र की रूप-रेखा, अंग-विन्यास और भाव-निर्देश के लिए उन्हें वास्तविक जगत का ही आश्रय लेना पड़ता है।

अतएव व्यापक और अनिवार्य होने के कारण अनुकरण छाया के समान निरन्तर हमारा अनुसरण करता है। छाया के साथ हमारा व्यक्तित्व भी वर्तमान रहता है, और जैसे हम प्रकाश की ओर बढ़ते हैं छाया भी क्षीणतर होती जाती है, और अन्त में प्रकाश में पूर्णतया लिप्त हो जाने के कारण छाया का अभाव हो जाता है। अनुभूति की सहायता से हमारा व्यक्तित्व उसे आत्मसात् कर लेता है—उसका पृथकत्व नहीं रह जाता। भाव - भूमि में प्रविष्ट होने पर अनुकरण मौलिकता में ही परिवर्तित हो जाता है। और, वस्तुतः यही उसका सच्चा परिहार है।

कहने के लिए मौलिकता के अनेक रूप हो सकते हैं—१ वस्तु या

विषय की मौलिकता, २ भावों और विचारों की मौलिकता, ३ शैली और व्यक्तित्व की मौलिकता।

१ वस्तु या विषय की मौलिकता—प्रायः सम्भव नहीं। साहित्य का आधार जीवन है। मनुष्य ने अपनी भावनाओं के व्यक्तिकरण के लिए चिरकाल से इसी जीवन और जगत का आश्रय लिया है। जीवन अनादि, अनन्त और एक रूप है। उसका भूत, वर्तमान और भविष्यत अभिन्न हैं। देश काल और परिस्थिति उसमें सहसा कोई असाधारण परिवर्तन नहीं कर सकते। वाह्य व्यवधान या आवरण के दूर कर देने पर हमें उस एक और शाश्वत जीवन के दर्शन होते हैं जो मनुष्य मात्र की सामान्य अनुभूति का विषय है। "किसी काव्य का श्रोता या पाठक जिन विषयों को मन में लाकर रति, करुणा, क्रोध, उत्साह इत्यादि भावों तथा सौंदर्य, रहस्य, गांभीर्य आदि भावनाओं का अनुभव करता है, वे अकेले उसी के हृदय से संबन्ध रखने वाले नहीं होते, मनुष्य मात्र की भावात्मक सत्ता पर प्रभाव डालने वाले होते। जब तक कोई भाव का विषय इस इस रूप में नहीं लाया जाता कि वह सामान्यतः सबके उसी भाव का आलंबन हो सके तब तक उसमें रसोद्बोधन की पूर्ण शक्ति नहीं आती।"

अस्तु, लोकातीत दृश्य तथा व्यापारों के विधान में व्यापक सहानुभूति को उत्तेजित करने की क्षमता नहीं होती। उसके लिए हमें वस्तु के साधारणत्व का आश्रय लेना अनिवार्य है। अतः कवि का सबसे पहला कार्य उत्कृष्ट व्यापार और विषय का निर्वाचन करना है। और ये उत्कृष्ट व्यापारादि निस्संदेह वही होते हैं जो मनुष्य के हृदय की तीव्र वेग से स्पर्श करके उसके मूल और चिरंतन भावों को जगाते हैं—वे भाव जो जाति और समय के प्रभाव से मुक्त हैं। व्यापार को काव्योपयोगी होने के लिए उसकी नूतनता किंवा प्राचीनता अपेक्षित नहीं।

२. भावों अथवा विचारों की उत्पत्ति—घटना और परिस्थिति के प्रभाव से होती है किसी को दुखी और पीड़ित देखकर हम समवेदना से विह्वल हो जाते हैं। हमारी जैसी स्थिति में अन्य व्यक्तियों को भी उसके प्रति वैसी ही अनुभूति होती है। इसके विपरीत उपस्थित जन-समुदाय में वहाँ यदि कोई उसका शत्रु है तो उसे उस व्यक्ति की असहाय और

आर्त्त अवस्था पर एक प्रकार का संतोष अथवा उदासीनता का अनुभव होगा। परंतु सामान्यतः एक दुःखी के प्रति हमारे हृदय में करुणा और सहानुभूति के भाव जाग्रत होते हैं। अतः घटना और परिस्थिति की समता में हमारे भाव और विचार भी प्रायः समान होंगे—अंतर केवल अनुभूति की मात्रा में होगा। एक व्यक्ति किसी को दुखी देखकर उदासीन भाव से चला जाता है, दूसरा उसके प्रति सहानुभूति का भाव लेकर उपस्थित होता है।

हमारा व्यक्तित्व अनेक सीमाओं से बद्ध है। स्थिति और संस्कार आदिक अनेक बंधन उसे प्रभावित करते हैं। ऐसी दशा में जो एक विचार करता या सोचता है, वह दूसरे के लिए असंभव हो, यह बात नहीं। विचारों की दृष्टि से नितांत मौलिक कोई वस्तु नहीं। जो अव्यक्त शक्ति हमें शाश्वत जीवन के अविच्छिन्न सूत्र में बाँधे हुए है, वह हमारे भाव, विचार और व्यापारों का समीकरण भी कर देती हैं।

३. *शैली*—के अंतर्गत भी अनुकरण के लिए न्यूनाधिक स्थान है। विचारों के समुचित व्यक्तीकरण का विविध रूप ही शैली है। मनुष्य अनादि काल से विभिन्न विधानों द्वारा अनुकरण और मौलिकता के प्रश्न से दूर अपने विचारों को व्यक्त करता आ रहा है। वर्तमान कलाकार अपने पूर्ववर्ती उपलब्ध विधानों का उपयोग करता है। यह कौन अस्वीकार करेगा कि छंद उपमा और रूपक आदि अनेक वाह्य प्रसाधनों की उत्पत्ति मानव-हृदय से नहीं हुई। उनके लिए किसी अन्य की सहायता लेना या न लेना बराबर है। पर तो भी न तो हम एक विकसित परंपरा की उपेक्षा कर सकते हैं और न केवल अपने उद्योग मात्र से उनका चरम रूप प्रस्तुत करने में समर्थ हो सकते हैं। फिर भी शैली के अंतर्गत उक्त बाह्य वस्तुओं का उतना महत्व नहीं है जितना कवि की प्रतिभा और व्यक्तित्व का।

अनुकरण हमारी कला-साधना का दुर्निवार अंग है। साथ ही वह उसका पूरक और सहायक है। वह उपार्जित ज्ञान के रूप में हमारे मस्तिष्क में संचित रहता है। उसके द्वारा हम जानते हैं कि किसी कलाकार ने किसी स्थिति का चित्रण किस रूप, किस विधान

अ र किन शब्दों में किया है। परंतु, हृदय का स्थान मस्तिष्क से ऊँचा है। काव्य-रचना के लिए जिस समय हम भाव-भूमि में प्रवेश करते हैं हमारा साधना रूप उपलब्ध ज्ञान अर्द्ध-चेतनावस्था में लीन रहता है। परंतु किसी विषय की ग.गाढ़ अनुभूति से यही अनुकरण अनायास मौलिकता बन जाता है। सत्य और निष्कपट अनुभूति में अनुकरण और मौलिकता में भेद नहीं रहता। प्रचलित और विश्वजनीन उपकरण कवि के व्यक्तित्व को पाकर सजीव और मौलिक हो जाते हैं। उदाहरण के लिए सूरदास और तुलसीदास के दो प्रसिद्ध पद हैं :—

(१) ऊधौ इतनी कहियो जाय।

अति कृस गात भई ये तुम बिन, परम दुखारी गाय॥
जल समूह बरसति दोउ आँखिन, हूंकति लीन्हे नाउं।
जहां जहाँ गोदोहन कीन्हो, सूंघति सोई ठाउं॥
परति पछार खाय छिन ही छिन, अति आतुर ह्वै दीन।
मानहु सूर काढ़ि डारी हैं, वारि मध्य ते मीन॥

(२) राघौ एक बार फिर आवौ।

ए वर बाजि विलोकि आपने, बहुरो बनहिं सिधावौ॥
जे पय प्याइ पोसि कर पंकज, बार-बार चुचकारे।
क्यों जीवहिं मेरे राम लाडिले, ते अब निपट बिसारे॥
भरत सौगुनी सार करत हैं, अति प्रिय जानि तिहारे।
तदपि दिनहि दिन होत झांवरे, मनहुँ कमल हिम मारे॥
सुनहु पथिक! जो राम मिलहि बन, कहियो मातु संदेसो।
तुलसी मोहि और सबहिन ते, इनको बड़ी अंदेसो॥

उक्त दोनों पदों में गाय और घोड़े के अतिरिक्त विषय में कोई अन्तर नहीं, स्थिति भी एक है। भावों की गति और उनका आश्रय भी समान है। चित्रण भी लगभग एक-सा है। तुलसीदास को यदि उक्त पद का भाव सूरदास से मिला तो भी हम उन्हें अनुकरण का दोषी नहीं ठहरा सकते। उनका प्रस्तुत किया हुआ चित्र सूरदास के चित्र से अधिक विशद है। उनके भाव भी तीव्र हैं। और,

सबसे अधिक उनकी तन्मयता अपनी है। जहाँ कवि सच्ची और गहरी अनुभूति के बिना ही दूसरे की उपलब्ध सामग्री का उपयोग करता है, वह निस्संदेह चौर है। उसमें वह शक्ति नहीं जो किसी दूसरे के व्यक्तित्व को घुला-मिलाकर अपने व्यक्तित्व में आत्मसात् करले।

अस्तु, साहित्य अनुकरण और मौलिकता का मणि-कांचन योग है। अनुकरण द्वारा कवि शाश्वत जीवन को उपस्थित करता है, और मौलिकता द्वारा स्वयं अपने को। दोनों चीजें एक दूसरे की पूरक हैं। एक के द्वारा सत्य का विधान होता है और दूसरी के द्वारा रमणीयता का।

—:—

२३—११—३६

: २२ :

सफल कहानी के अवयव और उपादान

आधुनिक उपन्यासकार की अपनी बात को संक्षिप्त से संक्षिप्त रूप में कहने की प्रवृत्ति से ही कहानी या गल्प का जन्म हुआ है। अतः उपन्यास और छोटी कहानी में सबसे बड़ा भेद उनके आकार का है। उपन्यास जीवन को समष्टि रूप में चित्रित करने का प्रयत्न है, जबकि कहानी उसके एकांगी रूप, एक स्थिति अथवा भाव विशेष के सूक्ष्म किंतु स्पष्ट दिग्दर्शन का नाम है। पात्रों की बहुसंख्यक तथा घटनाओं की संकुलता का निर्वाह कहानी में नहीं हो पाता। इसमें तो लेखक किसी घटना अथवा स्थिति विशेष पर अपनी दृष्टि केंद्रीभूत करता है। और अपनी समस्त शक्ति तथा कला-चातुर्य से उसे सजीव बनाने की चेष्टा में रत हो जाता।

अस्तु, यद्यपि आकार कहानी का मुख्य लक्षण है किंतु फिर भी वह उसका शरीर मात्र है, प्राण नहीं। कहानी की सफलता के लिए इसके अतिरिक्त कतिपय अन्य बातें हैं जो कलेवर की अपेक्षा अधिक महत्व रखती हैं। वे निम्नलिखित हैं :—

१ कथावस्तु का संगठन।
२ पात्रों का चरित्र-चित्रण।
३ कथोपकथन।
४ देश-काल।
५ शैली तथा
६ लेखक की परीक्षा किंवा अपरोक्ष उपस्थिति।

१ कथावस्तु का संगठन—कहानी के अंतर्गत कथावस्तु के संगठन के लिए बड़ी सावधानी और सतर्कता की आवश्यकता होती है। तनिक सी भी असावधानी से कहानी का समस्त सौंदर्य नष्ट हो जाता है। कहानी लिखना अत्यंत संकीर्ण पथ पर चलना है जिसमें गिरने और भटकने की पग-पग पर आशंका रहती है। इसके विपरीत उपन्यास में विस्तार तथा घटनाओं की विविधता के कारण लेखक को ठहरने और विश्राम करने का अवसर मिल जाता है। उपन्यास एक राजमार्ग है जिस पर निश्चिंततापूर्वक चलता है और जान या अनजान में भटकने पर भी शीघ्र ही अपने मार्ग पर आ जाता है।

अतः कहानी के अंतर्गत लेखक कथावस्तु के विन्यास में उतना ही सावधान रहता है जितना कि चरित्र-चित्रण में। क्योंकि इसी के ऊपर उसकी समस्त सफलता निर्भर रहती है। कथावस्तु कहानी का आधार है। वह एक रंगमंच है जिस पर उसके पात्र अपना अभिनय करते है।

कथावस्तु के प्राचीन और आधुनिक विन्यास में आकाश-पाताल का अंतर है। पुरानी कहानियों का क्रम-यदि वे आधुनिक कहानी-कला की दृष्टि से कहानी कही जाएं सीधा और इति वृत्तात्मक होता था। उसमें किसी प्रकार की वक्रता अथवा जटिलता नहीं होती थी जिससे कहानी की रोचकता बढ़ती है। आधुनिक कहानी लेखक अपनी कहानी के कथा-सूत्रों का संगठन सीधे-साधे ढंग से नहीं करता। उनमें पूर्वापर क्रम नहीं होता। वह क्रम तो पाठक को अपनी कल्पना के द्वारा स्वयं ही स्थापित करना पड़ता है। कथा-वस्तु के विन्यास का यह कौशल हमें हिन्दी की अमर गल्प-रचना 'उसने कहा' था में भले प्रकार देखने को मिलता है।

कथावस्तु के विन्यास के अंतर्गत ही चरमसीमा का प्रश्न रहता है। यह चरमसीमा कभी तो कथा के उपांत में और कभी अंत में होती है। यदि वस्तु-विन्यास की शिथिलता के कारण कहानी की रोचकता चरमसीमा तक उत्तरोत्तर प्रगति नहीं करती तो कहानी विशेष सफल नहीं होती। वस्तु-विन्यास का कौशल हिंदी कहानी लेखकों में से प्रसाद जी में अपेक्षाकृत अधिक मिलता है, और इसका कारण यह है कि वे नाटककार थे।

२ **चरित्र-चित्रण**—कहानी का दूसरा और सबसे महत्वपूर्ण तत्व चरित्र-चित्रण है जिसके बिना कहानी निर्जीव और इतिवृत्तात्मक हो हो जाती है। यदि कहानी के पात्र मूक, गतिहीन और निष्प्राण हों तो वे कहानी के अंतर्गत किसी कला-भवन में संगृहीत रूप और आकारहीन मूर्ति-खंडों से भी अधिक शोचनीय दिखाई देगें। पात्र ही कहानी के समस्त प्राण और समग्र वैभव होते हैं। सफल कलाकार घटनाओं के साथ उनका संबंध स्थापित करके उन्हें स्वच्छंदतापूर्वक अग्रसर होने का अवसर देता है। वह उन पर अपने व्यक्तित्व अथवा अपनी इच्छा-अनिच्छा का भार नहीं रखता। वह उनके सहज विकास में बाधा नहीं पहुंचाता। कथा के अंतर्गत वह उन्हें स्वतंत्रता पूर्वक बोलने, कार्य करने और जीवन की सम-विषम स्थितियों का यथोचित अनुभव करने के लिए छोड़ देता है। कुशल कलाकार उनके संबंध में अपनी सम्मति प्रकट करने के लिए भी उत्सुक नहीं होता। पात्रों के कार्य ही स्वतः उनका यथेष्ट परिचय देदेते हैं। वह उनका मनोवैज्ञानिक चित्रण करता है। प्रत्येक स्थिति किसी पात्र के मन पर कैसा प्रभाव डालती है, परस्पर विरोधी स्थितियों का शिकार होने पर वह किस प्रकार अंतर्द्वंद्व अनुभव करता है आदि बातों का वह अत्यंत सूक्ष्म और विशद चित्र उपस्थित कर देता है। "परस्कार" कहानी के अंतर्गत महत्वाकांक्षा और कोशल के प्रति विश्वासघात से विक्षिप्त हुई मधूलिका का मनोचित्र प्रसाद जी ने बड़ी उत्तमता से खींचा है। "क्षमा" शीर्षक कहानी में हुसन के मानसिक संहर्ष का चित्र भी अपूर्व है। कहने का तात्पर्य यह है कि सफल कहानी के लिए चरित्रों के सफल चित्रण की अत्यंत आवश्यकता है।

३ **कथोपकथन**—कथोपकथन आधुनिक कहानी का महत्वपूर्ण अंग है। प्राचीन कथाएँ प्रायः इतिवृत्तात्मक होती थीं, और उनमें संवादों का अभाव-सा रहता था। किंतु आज कल ऐसी बात नहीं है। कथोपकथन से रहित प्रायः कोई कहानी नहीं होती। इसके विपरीत यह अवश्य होता है कि कोई कोई कहानी कदाचित् आद्यंत कथोपकथन से युक्त हो। इससे कहानी में नाटकीयता आ जाती है। साथ ही पात्रों के चरित्र-चित्रण में बड़ी सहायता मिलती है। साधारण वर्णन के द्वारा जिस बात को सैकड़ों शब्दों में भी व्यंजित नहीं किया जा सकता वह कथोपकथन के द्वारा सहज ही में व्यक्त हो जाती है।

कथोपकथन के लिए यह आवश्यक है कि वह स्वाभविक एवं पात्रानुकूल हो। भाषा की सर्वत्र एक रूपता इसके लिए बड़ी घातक सिद्ध होती है। वह आवश्यकता से अधिक विस्तृत भी नहीं होना चाहिए। इन दृष्टियों से प्रेमचंद जी के कथोपकथन बड़े सफल होते हैं। उसके द्वारा कहानी में प्रस्तुत पात्रों का चित्र सा उपस्थित हो जाता है। यों तो प्रेमचंद जी इस कला के सम्राट् हैं और उनके कथोपकथन सर्वत्र ही उत्तम हुए हैं किंतु फिर भी "शतरंज के खिलाड़ी" "ईदगाह" और 'वज्रपात' आदि कहानियों में उन्होंने इसका आदर्श प्रस्तुत किया है।

४ देश का काल — जिस प्रकार किसी चित्र के लिए पृष्ठभूमि की आवश्यकता होती है उसी प्रकार कहानी के लिए देश काल अथवा परिस्थिति के यथार्थ चित्रण की अपेक्षा होती है, उसके बिना घटनाएँ तथा पात्र शून्य में स्थित से दिखलाई देते हैं। उनका कोई आधार नहीं होता। उच्च कोटि की गल्प में देश और काल का यथातथ्य चित्रण होता है।

देश से तात्पर्य उस स्थान किंवा भूखंड से है जहाँ प्रस्तुत घटना घटती है। "क्षमा" शीर्षक कहानी का घटना - स्थल स्पेन देश है। अब यदि लेखक उस देश की स्थिति का वर्णन करते समय किसी अन्य स्थान से संबन्ध रखने वाली बातों का वर्णन कर जाता है तो उसकी कहानी इस दोष से दूषित हो जाती है। "पुरस्कार" शीर्षक कहानी में प्रसाद जी ने कौशल राज्य तथा उसकी राजधानी श्रावस्ती की स्पष्ट रूप रेखा सामने रखदी है। यद्यपि ऐसा समझदार लेखक कदाचित् ही कोई होगा जो भारतवर्ष के स्थान पर ईरान या अफगानिस्तान के वन पर्वत नदी वा निर्झरों का उल्लेख करदे फिर भी यह लेखक की अपनी विशेषता होती है कि वह कितनी सावधानी तथा कौशल के साथ घटना-स्थल का चित्रण करता है। यदि देश की संगति भावों के साथ नहीं बैठती तो कथा अपनी सफलता से गिर जाती है।

काल पृष्ठ-भूमि का दूसरा अंग है। इसका तात्पर्य उस समय वा स्थिति से है जिसमें कोई घटना घटित होती है। घटना तथा पात्रों के साथ काल की संगति न होने पर प्रत्येक साहित्यक कृति अपने आदर्श से च्युत जाती है। लेखक को चाहिए कि वह जिस काल की घटना लिख रहा है उसी के योग्य विचार तथा वातावरण का समावेश

अपनी कृति में करे। सामाजिक कहानियों का सम्बन्ध प्रायः वर्तमान काल से होता है और उनके लिखने में लेखक काल संबंधी त्रुटियाँ प्रायः नहीं करता। किंतु ऐतिहासिक वृत्तों में सावधान लेखकों के द्वारा भी जान या अनजान में भद्दी भद्दी भूलें हो जाती हैं। श्री हरि कृष्ण प्रेमीने अपने "रक्षा-बंधन" तथा "आहुति" आदिक नाटकों में इतिहास के साथ जैसी खिलवाड़ की है उसका समग्र हिन्दी साहित्य में दूसरा उदाहरण मिलना कठिन है। प्रसाद जी की कहानियों के कथानक प्रायः ऐतिहासिक होते हैं तथा उनके अन्तर्गत उस काल के इतिहास का वास्तविक चित्र होता है। सफल गल्प के लिए काल का यथार्थ चित्रण आवश्यक है।

५ **शैली**—कहानी के प्रवाह और ओज की रक्षा के लिए भावों के अतिरिक्त भाषा का भी सहारा लेना पड़ता है। कहने की आवश्यकता नहीं कि उक्त दोनों चीजें पृथक नहीं हैं। अतः कहानी की पूर्ण सफलता के लिए लेखक को भाषा पर पूर्ण तथा असाधारण अधिकार होना आवश्यक है। जिस प्रकार कवि भाषा-शिल्पी होता है उसी प्रकार साहित्य की अन्य विधाओं का लेखक भी भाषा का मर्मज्ञ होना चाहिए। वह सावधानी से चुने गए शब्दों के द्वारा रचना में अभीष्ट चमत्कार उत्पन्न करता है। भाषा के द्वारा उसकी घटना सजीव और पात्र मुखरित हो जाते हैं। इसके विपरीत उसके अभाव में कहानी में सर्वत्र निर्जीवता सी दिखलाई देती है। भाषा के अधिकार का तात्पर्य यह कदापि नहीं कि वह निरर्थक शब्दाडंबर से पूर्ण हो। भावहीन शब्दाडंबर से तो सफलता उतनी ही दूर रहेगी जितनी कि श्री चंडीप्रसाद जी हृदयेश से। भाषा का चमत्कार आधुनिक गल्प-लेखकों में श्री बेचन शर्मा उग्र में खूब है। प्रसाद जी हिंदी लिख सकते हैं और बड़ी सुन्दर हिंदी किंतु उनकी भाषा का रूप सर्वत्र एक ही रहता है - वह पात्रानुकूल बदल नहीं सकता। प्रेमचंद जीवित और फड़कती हुई भाषा लिख सकते हैं किंतु वह एक ओर तो वर्तमान से चिपटे हैं और दूसरी ओर अपेक्षाकृत मुसलिम संस्कृति सभ्यता से अधिक भिज्ञ हैं। सुदूर अतीत की ओर ताकने का खतरा वह नहीं मोल लेसकते। जो हो भाषा की सजीवता के कारण कहानी में भी जीवन का संचार हो जाता है। वह मानों बोलने लगती है।

६ **लेखक का व्यक्तित्व**—कला कला के लिए का सिद्धांत चाहे कितने ही दृढ़ आधारों पर अवलंबित हो फिर भी यह अस्वीकार नहीं किया

जा सकता कि किसी रचना में लेखक के व्यक्तित्व का भाव होता ही नहीं। वह किसी न किसी रूप में वर्तमान अवश्य रखता है। सूत्रधार यदि मंच पर नहीं आता तो क्या हुआ, मंच पर जो कुछ घटित होता है वह सब उसी की माया का प्रसार होता है। यदि रचनाओं से लेखक की इतनी निस्संगता होती जितना कि उक्त कलावादी कल्पना करते हैं तो रचनाओं में जो वैचित्र्य दिखलाई देता है वह न दिखलाई देता। एक ही कथावस्तु लेखकों के भेद से नाना रूप धारण करती है। इसका रहस्य व्यक्तित्व का भेद ही तो है। अस्तु, फिर भी लेखक को अपनी सत्ता का आभास कहानी में बहुत खुलकर नहीं देना चाहिए। ऐसा न जान पड़े कि पाठक यह बैठे कि कोई उसे कुछ समझाने-बुझाने की बलात् चेष्टा कर रहा है। आदर्शवाद की झोंक में प्रेमचंद अपनी कहानियों का अंत कभी-कभी बुरी तरह विकृत कर देते हैं। जब तक वह अपने उद्देश्य का शब्दों में व्यक्तीकरण नहीं कर लेते तब तक उन्हें संतोष नहीं होता। निजत्व को इतना महत्व देना लेखक के लिए अनुचित है। आधुनिक कला तो कहानी के वास्तविक अंत का शब्दों में कथम अनावश्यक समझती है। उसकी कल्पना पाठक स्वयं कर लेता है। प्रसाद जी की "पुरस्कार" शीर्षक कहानी का अंत बड़ा स्वाभाविक है। एक प्रकार से यह प्रसाद जी की विशेषता है।

तात्पर्य यह कि सफल कहानी के लिए लेखक को बड़ी सावधानी से अपने को आड़ में रखना चाहिए। किसी विषय में प्रत्यक्ष रूप से सम्मति प्रकाशित करना अथवा निर्णय देना कहानी-कला के अनुकूल न होगा।

——:—

मुजफ्फरनगर,
अप्रेल सन् , ४६

: २३ :

कविवर बनारसीदास जैन

जैन-साहित्य की परंपरा कितनी प्राचीन है उसका पता हमें इतिहास से लग जाता है, किंतु वह परंपरा महत्वपूर्ण होने के साथ अविच्छिन भी रही है, यही प्रशंसनीय है। विशेष बात यह है कि इस समग्र धार्मिक साहित्य का भाषा की दृष्टि से सदैव देश - काल सापेक्ष संबंध रहा है। जब और जहाँ जैसी भाषा बोली गई उसी में जैनाचार्यों ने अपने विचारों को व्यक्त किया। वर्द्धमान महावीर स्वामी ने प्राकृत अर्थात् तत्कालीन प्रचलित भाषा में ही अपने अमूल्य उपदेश दिए। इसी प्रकार आगे के आचार्यों ने समयानुसार शौरसेनी तथा महाराष्ट्री प्राकृतों, अपभ्रंशों एवं अन्य दक्षिणी भाषाओं में अपने ग्रंथ - रत्न प्रस्तुत किए। इस प्रकार हिन्दी, गुजराती, राजस्थानी, तैलगु, तामिल और विशेष रूप से कन्नड़ भाषा में इस धर्म का प्रचुर साहित्य विद्यमान है। इस साहित्य की दूसरी विशेषता है इसका अधिकांशतः ज्ञान - वैराग्य और उपदेश पूर्ण होना यद्यपि अपवाद रूप में अनेक ऐसी रचनाएँ भी उपलब्ध हो जाती हैं जो तथाकथित विशुद्ध साहित्य की कोटि में आ सकें किंतु जैन आचार्य, कवि और पंडितों के सम्मुख धर्म ही एकमात्र प्रतिपाद्य विषय रहा, शृंगार नहीं। सांसारिक विषयों की चर्चा उनकी दृष्टि में असम्यक् - चारित्र्य होने के कारण सदैव हेय समझी गई। हिन्दी के प्राचीन लब्ध - प्रतिष्ठ कवि श्री बनारसीदास जैन भी ऐसे ही साहित्यकारों में हैं जिन्होंने अपनी बहुमूल्य एवं बहुसंख्यक रचनाओं के द्वारा जैन धर्म और भाषा - साहित्य की महत्वपूर्ण सेवा की है।

श्री बनारसीदास का जीवन अन्य प्राचीन हिन्दी कवियों की भाँति अनुमान का विषय नहीं है। यह हर्ष की बात है कि उन्होंने अपने "अर्द्ध - कथानक" नामक ग्रंथ में अपना विस्तृत परिचय दिया है। इससे उनके विषय में निभ्रांत रूप से अनेकानेक बातें ज्ञात हो जाती हैं। अतः उसके अनुसार वह जौनपुर के प्रसिद्ध जौहरी सेठ खड़गसेन के एक - मात्र पुत्र थे। उनका जन्म संवत् १६४३ वि० में हुआ था। यह बिहोलिया गोत्र के श्रीमाल कुल विशिष्ट जैन थे। उन्होंने स्वयं कहा है:—

पहिरी माला मंत्र की, पायो कुल श्री माल।
थाप्यो गोत बिहोलिया, बीहोल रखपाल॥

"ज्ञान-बावनी" में भी उन्होंने अपने पूर्वजों का उल्लेख किया है:—

शकबंधी सांचो शिरीमाल जिनदास सुन्यो,
ताके वंश मूलदास विरद बढ़ायो है।
ताके वंश छिति में प्रगट भयो खड़गसेन,
बनारसीदास ताके अवतार आयो है।
बीहोलिया गोत गरबतन गोत भयो,
आगरे नगर ताहि भेंट सुख पायो है।
बानारसी बानारसी खलक बखान करे,
ताको वंश नाम ठाम गाम गुन गायो है॥

अतः इनके पूर्वज मध्यभारत के बीहोल नामक गांव के मूल-निवासी थे। उन्होंने किसी जैन मुनि से दीक्षा ली थी। इनके प्रपितामह का नाम जिन दास, पितामह का मूलदास तथा पिता का नाम खड़गसेन था। इनके पिता खड़गसेन बाल्यावस्था में ही अपनी माता के साथ जौनपुर आ गए थे। उन्होंने श्रम और अध्यवसाय से अपने पैतृक व्यवसाय को संभाला। शीघ्र ही उनकी गणना धनी एवं प्रतिष्ठित जैनों में होने लगी। बनारसी दास अपने पिता की एकमात्र पुत्र-संतति थे। अतः विशेष लाड़-प्यार के कारण बिगड़ गए। दुर्भाग्य से इनका उठना-बैठना भी अच्छे लोगों में नहीं था। परिणाम यह हुआ कि वह दिनोदिन दुर्व्यसनों में फँसते गए। एक बात अच्छी थी। अत्यंत कुशाग्र-बुद्धि होने के कारण विद्या का पठन-पाठन चलता रहा जिससे उनके ज्ञान की उत्तरोत्तर वृद्धि होती रही। काव्य-रचना की शक्ति स्वभाव से ही प्राप्त थी अतः इस

बीच में काव्य-रचना भी होती रही, किंतु वह शृंगार-रस की थी। इनके रचना-कौशल पर जौनपुर का तत्कालीन नवाब कुलीच खां बड़ा मुग्ध था। उसकी सभा में बनारसी दास प्रायः जाते थे और वह नवाब को काव्य-शास्त्र की शिक्षा भी देते थे।

विवाह के उपरांत भी बनारसी दास आवारागर्दी और भोग-विलास में लिप्त रहे। किंतु, पिता के अतिवृद्ध और असमर्थ हो जाने पर अंत-में घर-गृहस्थी का भार इनके ऊपर आ ही पड़ा। अतः यह पिता की आज्ञा से कुछ रत्न, आभूषण, कपड़ा आदि विक्रय की चीजें लेकर आगरा पहुँचे। सरलता और अनुभवहीनता के कारण वहाँ उनका वह सारा माल बारहबाट हो गया और जो कुछ बचा उसमें बड़ा घाटा हुआ। इस अप्रत्या-शित आपत्ति से इनकी बड़ी शोचनीय दशा हो गई। अंत में पत्नी से कुछ आर्थिक सहायता प्राप्त हो जाने से पुनः इन्होंने कार्यारंभ किया और जैसे-तैसे अपने व्यवसाय को सँभाला इसी बीच इनके पुत्र और पत्नी का देहावसाय हो गया। दूसरा विवाह किया। उसकी संतान और वह पत्नी भी जाती रही। पिता का देहावसान हुआ। तीसरा विवाह किया। इस पत्नी के साथ बनारसी दास स्थायी रूप से आगरे में रहने लगे। यहाँ इनके एक पुत्र और हुआ किन्तु वह भी नौ वर्ष की अवस्था पाकर काल-कवलित हो गया। ऐसा प्रतीत होता है मानो विधाता इन्हें सब ओर से परिग्रहहीन करके धर्म-मार्ग में ही लगाना चाहता था। ऐसा ही हुआ भी। सांसारिक सुखों की निस्सारता के जीते-जागते चित्र अपनी आँखों से देखकर अन्त में बनारसीदास जी पूर्णरूपेण विरक्त हो गये। कवि होने साथ ही, कहा जाता है, यह अपने समय के विख्यात शतरंज के खिलाड़ी थे। शाहजहाँ इन्हें छोड़कर और किसी के साथ शतरंज खेलना पसंद नहीं करता था। किंतु, एक बार जब इनका वैराग्य-भाव चरम सीमा पर पहुँच गया तो उस ओर से भी उन्होंने युक्तिपूर्वक छुट्टी लेली।

धार्मिक-दृष्टि से स्पष्ट है कि यह दिगंबर थे। अपनी एक रचना "वेद-निर्णय पंचाशिका" में इन्होंने समग्र जैन-साहित्य को "प्रथमानुयोग", "करणानुयोग", द्रव्यानुयोग" एवं "चरणानुयोग" नामक चार वर्गों में बाँटा है। यह एकाधिक बार काशी जी और अहिच्छत्रा की

यात्रा के लिए गए थे तथा भगवान् पार्श्वनाथ संबंधी इनके बड़े मार्मिक पद्य उपलब्ध हैं। अतः जान पड़ता है कि २३ वें तीर्थंकर ही इनके इष्टदेव और विशेष रूप से उपास्य थे। लिखते हैं :—

जिनके वचन उर धारत जुगल नाग,
भए धरणींद्र पद्मावति पलक में।
जाकी नाम-महिमा सो कुधातु कनक करे,
पारस पषान नामी भयो है खलक में।
जिनकी जनमपुरी नाम के प्रभाव हम,
आपुनो सरूप लख्यो मानुसो झलक में।
तेई प्रभुपारस महारस के दाता अब,
दीजै मोहि साता दृगलीला की ललक में॥

श्री बनारसी दास के विषय में जैन समाज में अनेक जन-श्रुतियाँ प्रचलित हैं जिनसे इनके विनम्र और विवेकी होने का प्रमाण मिलता है। किंतु इन जन-श्रुतियों में इनके गोस्वामी तुलसी दास जी से मिलने की बात सबसे विचित्र है। अनेक कारणों से यह निराधार जान पड़ती है। प्रथम तो श्री गोसाईं जी की मृत्यु के समय अर्थात् संवत्-१६८० में यह केवल ३७ वर्ष के थे। ऐसी दशा में वयोवृद्ध और अपने यश की चरम सीमा पर विराजमान् गोसाईं जी का इनसे मिलने के लिए आना सर्वथा अयुक्त है। दूसरे इन्होंने स्वयं अपने जीवन का विस्तृत परिचय "अर्द्ध-कथानक में दिया है। उसमें उस घटना का कोई उल्लेख नहीं है। अतः यदि यह बात हुई होती तो बनारसी दास अपनी रचना में इसका उल्लेख अवश्य करते। जो हो "कर्म-प्रकृति-विधान" नामक अपनी अन्तिम रचना के आधार पर विद्वानों ने इनका मृत्यु-संवत् १७०० विक्रमी के आस-पास निर्धारित किया है।

बनारसी दास जी की अब तक उपलब्ध रचनाएं निम्नलिखित हैं:—

१ : बनारसी बिलास।
२ : नाटक समयसार।
३ : नाममाला।
४ : अर्द्ध-कथानक।

इन्हीं चार रचनाओं के साथ उस पाँचवीं "शृंगार-रचना" को भी गिना जा सकता है जो उन्होंने यौवन के उन्माद में सबसे प्रथम रची थी और जिसे आत्म-ग्लानिवश उन्होंने बरसात में चढ़ी हुई गोमती नदी में

प्रवाहित कर दिया था। उसके उपरांत उन्होंने जो कुछ लिखा वह ज्ञान और वैराग्य से परिपूर्ण है।

१ : बनारसी-विलास—यह कविवर की फुटकर रचनाओं का संग्रह है जिसे आगरा-निवासी पं० जगजीवन जी ने संकलित किया था। विषय-सूचनिका में यद्यपि इसकी ५७ रचनाओं का उल्लेख है किंतु इनमें से अधिकांश प्रकीर्णक हैं और "जिनसहस्रनाम", "सूक्ति-मुक्तावली", "ज्ञान बावनी", "वेद-निर्णय पंचाशिका", "कर्म-प्रकृति-विधान", "साधुवंदना" एवं "मोक्ष-पेड़ी" जैसी रचनाएं ही वस्तुतः रचनाएँ कहलाने योग्य हैं।

२ : नाटक समय-सार—यह आचार्य कुंदकुंद की मूल संस्कृत रचना का अत्यन्त सरस और सफल हिंदी अनुवाद है।

३ : नाममाला—यह एक कोश-ग्रंथ है। इसकी रचना धनंजय के "नाम-माला" नामक संस्कृत ग्रंथ के आधार पर हुई है। सुप्रसिद्ध कृष्णभक्त नंददास की "अनेकार्थ-मंजरी" के समान यह भी हिंदी भाषा का एक प्रौढ़ और उपयोगी ग्रंथ जान पड़ता है।

४: अर्द्ध - कथानक यह हिन्दी में अपने ढंग का अपूर्व ग्रंथ है। यह ६७३ दोहा चौपाइयों का लेखक का आत्म - चरित है। इसके आधार पर श्री बनारसीदास हिन्दी के सर्व - प्रथम आत्म - चरित लेखक ठहरते हैं। कवि के जीवन के साथ साथ इसमें तत्कालीन राजनीतिक दुरवस्था के अत्यन्त विशद और प्रामाणिक चित्र हैं। अतः ऐतिहासिक दृष्टि से भी इस रचना का यथेष्ट मूल्य है।

उपर्युक्त रचनाओं के अतिरिक्त "परमार्थबचनिका" एवं "उपादान-निमित्त की चिट्ठी" आदिक गद्य - प्रबंधों को देख कर यह भी कहना पड़ता है कि बनारसीदास जी हिन्दी के प्राचीन गद्यकारों में भी अपना विशिष्ठ स्थान रखते हैं।

जहाँ तक विचारों का संबंध है कोई भी जैन चाहे वह कितना ही बड़ा आचार्य किंवा साहित्यकार हो, ऐसा आलाप नहीं कर सकता कि उस क्षेत्र में उसकी कोई विशिष्ट मौलिक देन है। केवल - ज्ञान की अवस्था को प्राप्त पूजनीय महंतों द्वारा उपदिष्ट विचारों के विशदीकरण किंवा स्पष्टीकरण का प्रयत्न ही सबका कर्तव्य - कर्म होता है। अतः यह कहना कि कदाचित श्री बनारसीदास ने अपनी रचनाओं के द्वारा जैन - साहित्य की विचारों के क्षेत्र में अभिवृद्धि की हो नितांत अनर्गल एवं उपहासास्पद है। किंतु इस में संदेह नहीं कि जैन धर्म के

मौलिक सिद्धांतों को हिंदी काव्य का ऐसा भव्य रूप देने वाला उनकी टक्कर का अन्य कोई जैन कवि नहीं है। यह भी प्रशंसनीय है कि कविवर बनारसीदास ने गोस्वामी तुलसीदास के ही समान हिंदी - काव्य की तत्कालीन बहुप्रचलित प्रायः सभी शैलियों में सफलता पूर्वक रचना की है। आचार्य शुक्ल के अनुसार उस काल में निम्नलिखित पाँच काव्य - शैलियाँ प्रचलित थीं।

१—वीरगाथा - काल की छप्प - पद्धति।

२—विद्यापति और सूरदास की गीत - पद्धति।

३—गंग आदिक भाटों की कवित्त - सवैया की पद्धति।

४—संत कवियों की दोहा - पद्धति।

५—जैन कवि ईश्वरदास की दोहा - चौपाई वाली प्रबंध - काव्य की पद्धति।

अस्तु, श्री बनारसीदास की रचनाओं में उक्त सभी शैलियों का यथा-स्थान प्रयोग हुआ है। और तो और जिस बरवै छंद के मौलिक प्रयोग का श्रेय अब्दुर्रहीम खानखाना को दिया जाता है और जिनसे, कहा जाता है गोस्वामी तुलसीदास ने भी प्रेरणा प्राप्त की, उसका बहुत सुन्दर प्रयोग भी कविवर की रचनाओं में दृष्टिगोचर होता है। बनारसीदास की भाषा और रचना - शैली को आचार्य शुक्ल ने भी प्रौढ़ एवं निर्दोष बतलाया है। इस क्षेत्र में उन्होंने उनकी तुलना संत - कवि श्री सुन्दरदास जी से की है। संक्षेप में इतना ही कहा जा सकता है कि श्री बनारसीदास की रचनाओं का विषय जैन धर्म और जैन - दर्शन है। उनकी रचनाएं प्रौढ़, भाषा निर्दोष एवं प्रवाह-पूर्ण तथा उनके छंद लोक-प्रचलित हैं। उदाहरण के लिए कुछ कविताएं लीजिए। मोहग्रस्त जीव का कैसा मार्मिक चित्र खींचा है:—

काया से विचारी प्रीति, माया ही में हार-जीत,
लिए हठ-रीति जैसे हारिल की लकरी।
चंगुल के जोर जैसे गोह गहि रहे भूमि,
त्यों ही पांय गाड़े पै न छोड़ै टेक पकरी।
मोह की मरोर सों, भरम को न ठौर पावै,
धावै चहुँ ओर ज्यों बढ़ावै जाल मकरी।
ऐसी दुर्बुद्धि भूलि झूठ के झरोखे भूलि,
फूली फिरै ममता जंजीरन सों जकरी॥

सुबुद्धि ही वस्तुतः राधिका रानी है:—

रूप की रसीली, भ्रम कुलफ की कीली,
सील - सुधा के समुद्र झीली सीली सुखदायी है।
प्राची ज्ञान - मान की अजाची है निदान की,
सुराची नर वाची ठौर साँची ठकुराई है।
धाम की खबरदार, राम की रमन हार,
राधा - रस पंथनि में ग्रंथनि में गाई है।
संतति की मानी निर्वानी नूर की निसानी,
यातें सद्बुद्धि रानी राधिका कहाई है॥

बाह्य विधान एवं वेश की व्यर्थता का वर्णन करते हुए कहते हैं:—

मौन के धरैया गृह त्याग के करैया,
विधि-रीति के सधैया, परनिंदा सों अपूठे हैं।
विद्या के अभ्यासी, गिरि - कंदरा के वासी,
सुचि अंग के अचारी हितकारी बैन छूटे हैं।
आगम के पाठी मन लाय महाकाठी,
भारी कष्ट के सहनहार रामाहूँ सों रूठे हैं॥
इत्यादिक जीव सब कारज करत रीते,
इंद्रिन के जीते बिना सरबंग झूठे हैं॥

और यह बरवै भी कैसी मधुर है:—

बालम तुंहुं तन चितवत गागरि फूटि।
अंचरा गो फहराय सरम गै छूटि॥

अंत में यह पद भी द्रष्टव्य है जो गोस्वामी तुलसीदास में "कबहुँक हौं एहि रहनि रहौंगो" के समान कविवर की वैराग्य-वृत्ति का द्योतक है:—

दुविधा कब जैहै या मन की!
कब निज नाथ निरंजन सुमिरौं, तज सेवा जन जन की॥
कब रुचि सौं पीबैं दृग- चातक, वृंद अखै पद - घन की।
कब शुभ ध्यान धरौं समता गहि, करूं न ममता तनकी॥
कब घट अंतर रहै निरंतर, दृढ़ता सुगुरु बचन की।
कब सुख लहौं भेद परमारथ, मिटै धारना धन की॥
कब घर छाँड़ि होंहुं एकाकी, लिए लालसा बन की।
ऐसी दशा होय कब मेरी, हों बलि बलि वा छन की॥

—:—

: २४ :

आचार्य श्री हित हरिवंश महाप्रभु

विक्रमीय सोलहवीं शताब्दी का ब्रज कृष्ण-भक्ति का ही नहीं, संगीत और काव्य का भी अनुपम केंद्र था, विशेषकर वृन्दावन जहाँ श्री निंबार्क, माध्व और गोड़ीय आदिक नाना संप्रदायोपसंप्रदायों के बीच मधुर रस से प्लावित परम पावनी भक्ति-सुधा-तरंगिणी विधि-निषेधों के करारों को हठात् ढाती हुई अपूर्व वेग से निर्बाध बह रही थी। उस समय वहाँ श्री रूप सनातन और जीव जैसे आचार्य, आशुधीर और गोपाल भट्ट जैसे निरीह साधक, "गान-कला-गंधर्व" स्वामी हरिदास जैसे गायक एवं श्रीभट्ट, सूरदास मदनमोहन, तथा आचार्य श्री हित हरिवंश महाप्रभु जैसे उच्चकोटि के कवि विद्यमान थे।

आचार्य श्री हित हरिवंश जी का जन्म मथुरा के निकट बाद गांव में बैशाख शुक्ला ११ संवत् १५३० वि० में हुआ। उनके द्वारा प्रवर्तित श्री राधावल्लभी संप्रदाय में यही तिथि स्वीकृत है। हित-चंद्रिकाकार जमुनादास के आधार पर प्रिया दास शुक्ल ने "राधावल्लभ-भक्तमाल" में इसी का उल्लेख किया है। "सेवक-बानी" में भी लिखा है:—

"मथुरा-मंडल भूमि आपनी - जहाँ बाद प्रगटे जगधनी।
शुभ वासर शुभ ऋक्ष विचार - माधव मास ग्यास उजियार॥"

शिवसिंह सेंगर और कदाचित् उन्हीं के आधार पर पं० रामचंद्र शुक्ल ने इनका जन्म संवत् १५५६ वि० माना है, किंतु क्यों, इसका उल्लेख उन्होंने नहीं किया। यह तो प्रसिद्ध है कि ओरछा नरेश महाराज मधुकर शाह के राजगुरू श्री हरिराम व्यास आचार्य हित

हरिवंश महाप्रभु के शिष्य थे और साथ ही स्वामी हरिदास जी न केवल उनके समकालीन थे अपितु रास के आयोजनों में आचार्यपाद के अभिन्न सहचर थे। "कल्याण" भक्त के चरितांक में संवत् १५६१ में व्यास जी का वृंदावन पहुँचना और श्री हित जी का शरणापन्न होना लिखा है। स्वामी हरिदास जी का रचना-काल भी संवत् १६०० १७ ठहराया गया है। व्यास जी का निम्नलिखित पद है:—

विहारहि स्वामी बिन को गावै।
बिन हरिवंशहि राधावल्लभ की रस-रीति सुनावै॥
रूप सनातन बिन को वृन्दाविपिन माधुरी गावै।
कृष्णदास बिन गिरिधरजू कौं को अब लाड़ लढ़ावै॥
मीराबाई बिन को भक्तन पिता जान उर लावै।
परमानन्ददास बिन को अब लीला गाइ सुनावै॥
सूरदास बिन पद-रचना को कौन कविहिं कहि आवै।
व्यासदास इतनिन बिन को अब तन की तपन बुझावै॥

अतः कहना न होगा कि उक्त पद में उल्लिखित स्वामी हरिदास, आचार्य रूप सनातन, कृष्णदास, मीराबाई, सूरदास और परमानन्द दास आदिक महानुभावों के साथ ही आचार्य हितहरिवंश जी ने भी व्यास जी के सामने ही ऐहिक लीला का संवरण किया था। अवश्य ही इनमें से प्रायः किसी की भी निधन-तिथि संवत् १६२० के बाद नहीं जाती। और उधर श्री राधावल्लभी संप्रदाय में आचार्यपाद का जो प्रामाणिक चित्र उपलब्ध है वह स्पष्ट ही उन्हें वयोवृद्ध सिद्ध करता है। अतः संवत् १५३० वि० को श्री हित हरिवंश जी की जन्म-तिथि मानने में कोई बाधा नहीं दीखती जब कि संप्रदाय में उनका निकुंजवास आश्विन शुक्ला १५ संवत् १६०६ वि० माना जाता है।

अस्तु, आचार्य श्री हित हरिवंश जी के पिता का नाम व्यास मिश्र और माता का तारादेवी था। वे सहारनपुर जिलांतर्गत देवबंद के निवासी थे। संयोग से श्री आचार्य प्रभु के प्राकट्य के अवसर पर दोनों ब्रज प्रदेश की यात्रा के लिए निकले थे जिससे मथुरा के निकटस्थ बाद गाँव को आचार्य की जन्म-भूमि होने का गौरव प्राप्त हुआ। महाप्रभु हित हरिवंश जी अपने माता-पिता की ही एक मात्र संतान नहीं थे अपितु सारे कुटुंब में नो भाइयों के बीच एकमात्र पुत्र-संतति थे।

कहा जाता है कि उनका जन्म उनके पितृव्य श्री नृसिंहाश्रम जी के आशीर्वाद के फल-स्वरूप हुआ था जो विरक्त और एक सिद्ध महात्मा थे। व्यास जी काश्यप गोत्री यजुर्वेदीय माध्यंदिनी शाखा के गौड़ ब्राह्मण थे। उनके पूर्वज कुरुक्षेत्र-मंडल के अन्तर्गत बड़गाँव के निवासी थे। किंतु उनके पिता हिमकर मिश्र तोमर नरेश महाराज कीर्तिचन्द्र की कृपा से जागीर प्राप्त कर देव-बन्द में आ बसे थे। स्वयं व्यास जी बिजनौर के महाराज विजय बहादुर के राजगुरु थे। अतः आचार्य श्री हित हरिवंश का कुल प्रतिष्ठित होने के साथ ही राज-वैभव से सर्वथा परिपूर्ण था। ऐसे घर में उनका लाड़-चाव से पालन पोषण हुआ और शिक्षा का भी उचित प्रबंध किया गया। व्यासजी कुल-परंपरा से वैष्णव थे और श्री राधाकांत रूप से कृष्ण की सेवा करते थे। पश्चात् जब आचार्य श्री हित हरिवंश जी ने, कहते हैं, श्री राधा के आदेश से घर के कुएं से श्री रंगीलाल जी की मूर्ति का उद्घाटन किया तब से उस घर में श्री रंगीलाल जी की सेवा होने लगी जो देवबंद में अद्यावधि हो रही है।

आचार्य श्री हितहरिवंश महाप्रभु जी का विवाह श्री रुक्मिणी देवी से हुआ जिनसे उनके तीन पुत्र और एक कन्या उत्पन्न हुए। श्री वनचंद्र जी चैत्र कृष्ण ६ संवत् १५५४, श्री कृष्णचंद्र जी माघ शुक्ला ६ संवत् १५४६, श्री गोपीनाथ जी फाल्गुन शुक्ला १५ संवत् १५४७ और कन्या श्री साहब देवी जी संवत् १५४८ वि० में हुईं।

संवत् १५६५ वि० में देवबंद छोड़ने के बाद आचार्य जी ने मार्ग में चरथावल गांव के आत्मदेव नामक विप्र की कृष्णदासी और मनोहरिदासी नामक दो कन्याओं से का पाणि-ग्रहण किया जिनसे वृन्दावन में संवत् १५६८ में एक पुत्र श्री मोहन चंद्र जी हुए। आचार्य हित हरिवंश महाप्रभु एवं उनके संप्रदाय द्वारा उपासित श्री राधावल्लभ जी की सुप्रसिद्ध मूर्ति भी उनको इन्हीं आत्मदेव से मिली थी जिसे लेकर वह वृन्दावन आए और वहीं कार्तिक शुक्ला १३ संवत् १५६५ वि० को उन्होंने उसकी विधिवत् स्थापना करके प्रथम पाट-महोत्सव किया। आचार्य जी द्वारा प्रवर्तित भक्ति संप्रदाय का नाम इसी मूर्ति के आधार पर श्री राधावल्लभी है। कविवर व्यास जी ने आचार्य जी की भक्ति के स्वरूप और सेवा-विधि का इस प्रकार वर्णन किया है:—

"प्रगटी हित सखी नर तन धार।
है यह संपति दंपतिजू की रसिकन प्राण अधार॥
प्रेम-लक्षणा भक्ति प्रकासी, कही निकुंज रस-रीति उचार।
रहस-विलास प्रगट जग कीनौ, श्रीवन नित्य विहार॥
श्री राधावल्लभ दुलरायो, सेवा-रीति प्रचार।
गौर अंग तिलक रोरि को सोहै, मध्य यूप विंदु को धार॥
कंठी युगल भावना मुद्रा, ता छवि की बलिहार।
"व्यासदास" डूबत भव-निधि ते गुरु हरिवंश लियो तार॥

स्पष्ट है कि आचार्य हित हरिवंश जी मधुर रस के उपासक थे और निंबार्क एवं गौड़ीय संप्रदाय की भांति उनमें भी राधा की उपासना का प्राधान्य था। वे सेवा-कुंज में बैठे हुए अपने आराध्य-युगल की मोहिनी मूर्ति को एकटक निहारा करते थे। नाभादास जी ने उनके विषय में अपने "भक्त-माल" में लिखा है :—

"राधा चरण प्रधान हृदय अति सुदृढ़ उपासी।
कुंज-केलि दंपती तहाँ की करत खवासी॥
सर्वसु महाप्रसाद प्रसिध ताके अधिकारी।
विधि-निषेध नहिं दास अनन्य उतकट व्रतधारी॥
व्यास-सुवन पथ अनुसरै, सोई भलें पहिचानिहै।
श्री हरिवंस गुसाईं भजन की, रीति सकृत कोऊ जानिहै॥

आचार्य श्री हितहरिवंश महाप्रभु ने स्वयं "फुटकर-वाणी" में अपने विचारों को निम्न-लिखित दोहों में संपुटित करने का प्रयास किया है :—

"सबसों हित निष्काम मति, वृन्दावन विश्राम।
श्री राधावल्भ लाल कों, हृदय ध्यान मुख नाम॥
तनहिं राखि सत्संग में, मनहिं प्रेम रस-भेव।
सुख चाहत हरिवंश हित, कृष्ण कल्पतरु सेव॥
निकसि कुंज ठाढ़े भये, भुजा परस्पर अंस।
श्री राधावल्लभ मुख-कमल, निरखि नयन हरिवंश॥
रसना कटहु जु अनरटहु, निरखिअन फुटहु नैन।
श्रवन फुटहु जो अनसुनौ, बिन राधा यश बैन॥

स्पष्ट ही यहाँ "परम-प्रेमरूपा" उत्कट भगवद्भक्ति का निर्देश किया गया है जो निष्काम अर्थात् अहैतुकी है। श्री नारदीय भक्ति-सूत्रों में इस भक्ति का निरूपण अत्यंत भावपूर्ण एवं विशद है। उसके अनुसार वह :—

"गुणरहितं कामनारहितं प्रतिक्षणवर्द्धमानविच्छिन्नं सूक्ष्मतर-मनुभवरूपम् ॥"

होने के साथ ही "अनिर्वचनीय" एवं "अमृतस्वरूपा" है। वह लोक और वेद से बहिर नहीं जैसा कुछ लोग सोच लेते हैं अपितु "निरोधस्वरूपा" होने के कारण उक्त दोनों से अतीत है। वेद का उसमें कहाँ तक ध्यान रखा गया है यह तो इसी से स्पष्ट है:-

"भवतु निश्चयदार्ढ्यादूर्ध्वं शास्त्ररक्षणम् ॥ "ना०भ० सूत्र १२
अर्थात् दृढ़ निश्चय हो जाने के बाद भी शास्त्र की रक्षा करनी चाहिए क्यों कि :—

"अन्यथा पातित्या शंकया ॥" ना०भ०सूत्र १३

अर्थात् नहीं तो गिर जाने की संभावना है। गीताकार ने इसीलिए इस भक्ति को श्रेष्ठ और ज्ञानी की भक्ति कहा है।

आचार्य श्री हितहरिवंश महाप्रभु में इस नितांत दुर्लभ अनन्य भक्ति का कैसा दिव्य एवं अलोकसामान्य परिपाक देख पड़ता है जो चकवी को भी अपने प्रिय से बिछुड़ने पर जीवित देखकर धिक्कारते हैं :—

चकई प्राण जु घट रहैं पिउ बिछुरंत निकज्ज।
सर अंतर औ कालनिसि तरफ तेज घन गज्ज ॥
तरफ तेज घन गज्ज लज्ज तुअ बदन न आवै।
जलविहीन करि नयन भोर केहि भाइ दिखावै ॥
जय श्री हित हरिवंश विचार कौन अस वाद जु बकई।
सारस यह संदेह प्राण घट रहै जु चकई ॥

वे कहते हैं, मन एक ही है अतएव इसे श्री राधाकृष्ण की भक्ति में न रमाकर सर्वत्र भटकाने से क्या लाभ :—

यह जु एक मन बहुत ठौर करि, कहु कौने फल पायौ।
जँह तँह विपति जार जुवती लौं प्रगट पिंगला गायौ ॥

द्वै तुरंग पै जोर चढ़त हटि परत कौन पै धायौ।
कहि धौं कौन अंक पै राखै जो गनिका सुत जायौ॥
जैश्री हितहरिवंश प्रपंच वंच सब काल व्याल कौ खायौ।
यह जिस जनि श्यामा पद कमल संगी सिर नायौ॥

कहना न होगा कि यही वह सुप्रसिद्ध पद है जिसने श्री हरिराम व्यास रूप महामदोन्मत्त गज के दर्पकंदू का उपशमन ही नहीं किया था अपितु सदैव के लिए उसे अपने चरणों का सेवक बना लिया था।

अस्तु, यही श्याम और श्यामा आचार्य श्री के उपास्य हैं—दो किंतु एक और नितांत अपृथक तत्व। वह कैसे निर्द्वंद्व घोषित करते हैं :—

रहौ कोऊ काहू मनहिं दियें।
मेरे प्राणनाथ श्री श्यामा सपथ करौं तृण छियें॥
जे अवतार कदंब भजत हैं धरि दृढ़ व्रत जु हियें।
तेहू उमगि तजत मर्यादा बन-बिहार रस पियें॥
खोयें रतन फिरत जे घर घर कौन काज अस जियें।
जैश्री हित हरिवंश अनत सचु नाहीं बिनु या रसहि पियें॥

मर्यादा किंवा बाह्य प्रतिबंधों की अनपेक्षा करने वाली इस रागानुगा भक्ति का आदर्श ब्रज-गोपिकाएं मानी गई हैं जो श्रीकृष्ण एवं उनकी आह्लादिनी शक्ति श्रीराधा जी की सहज अनुरागिनी ही नहीं अपितु उनकी नित्य लीलाओं में अभिन्न सहचरी के रूप में उनकी नित्य सेवा करने वाली भी हैं। आचार्यपाद ने उन्हीं के अनुकरण पर सखी भाव से आराधना की अपूर्व पद्धति का प्रचलन श्रीराधावल्लभी संप्रदाय में किया। वृंदावनस्थ श्री निंबार्क, माध्व एवं गौड़ीय आदिक सभी संप्रदायों में न्यूनाधिक हेरफेर से इसी मधुर भाव की भक्ति-पद्धति का प्रचलन है और साथ ही उसके आलंबन स्वरूप श्रीराधा जी की प्रधानता है।

आचार्य श्री हित हरिवंश महाप्रभु जी की निम्नलिखित रचनाएं उपलब्ध हैं:—

१: श्री हित चौरासी।
२: फुटकर वाणी।
३: श्री राधा-सुधानिधि।
४: श्री यमुनाष्टक। और
५: पत्र द्वय (गद्य)

तृतीय ग्रंथ श्री "राधा-सुधानिधि" के विषय में प्रवाद है कि वह गौड़ीय संप्रदाय के किसी महानुभाव की रचना है किंतु उसमें और "श्रीहित चौरासी" में कोई ऐसा अर्थ-वैषम्य देखने में नहीं आता जिससे वह किसी भिन्न लेखक की रचना कही जा सके। और न तो "श्रीहित चौरासी" की गरिमा एवं काव्य-सौष्ठव को देखकर यह कहा जा सकता है कि वह किसी ऐसे व्यक्ति की रचना हो सकती है जिसे संस्कृत साहित्य, काव्य-शास्त्र और रस-रीति का अगाध और विस्तृत ज्ञान न हो। सच तो यह है कि आचार्य श्रीहित हरिवंश जी की कवित्व-शक्ति की प्राचीन एवं अर्वाचीन सभी आचार्यों ने भूरि भूरि प्रशंसा की है। हिंदी में संभवतः एक भी ऐसा कवि नहीं है जिसकी इतनी अल्प रचना हो और उसी के आधार पर उसकी गणना नितांत उच्च-कोटि के कवियों में हुई हो। अपनी रचना-माधुरी के कारण ही वह श्रीकृष्ण की वंशी के अवतार कहे जाते हैं। व्यास जी ने उनकी अनन्य भक्ति के साथ ही उनकी असाधारण कवित्व-शक्ति की प्रशंसा करते हुए कहा है:—

हुतौ रस रसिकन को आधार।
बिनु हरिवंशहि सरस रीति कौ कापै चलिहै भार॥
को राधा दुलरावै गावै, बचन सुनावै चार।
बृंदावन की सहज माधुरी कहि है कौन उदार॥
पद-रचना अब कापै ह्वै है निरस भयौ संसार।
बड़ो अभाग अनन्य सभा को उठिगौ ठाठ सिंगार॥
जिन बिनु दिन-छिन जुगसम बीतत सहज रूप आगार।
"व्यास" एक कुल कुमुद बंधु बिनु उडुगन जूंठौ थार॥

और सेवक जी भी कहते हैं:—

यहै नित केलि, येई जु नाइक निपुन, यहै बन-भूमि नित-नित बखानी।
बहुत रचना करत राग रागनि धरत तान बंधान सबठानि आनी॥
ज्यों मूंद नहिं मिलत टक्सार ते बाहरी लाख में गैर मुहरी जु जानी।
यौं जु रस-रीति बरनत न ठाई मिलत ज्यों न उच्चरत हरिवंश बानी॥

अर्थात् वही राधा-कृष्ण हैं, वही उनके केलि-कलाप और वही वृंदावन। उन्हीं राग-रागनियों में अगणित रूप से असंख्य कवि उस एक ही विषय का वर्णन करते हैं किंतु आचार्य हित हरिवंश जी की

टकसाली रचनाओं में जाली सिक्कों के समान दूसरे किसी कवि की रचनाएं मिलाई नहीं जा सकतीं। उनके भाव अनूठे और उनकी भाषा असामान्य है। सच तो यह है कि आचार्य हित हरिवंश क्या भक्ति, क्या विषय और क्या शैली सभी दृष्टियों से वस्तुतः पीयूषवर्षा जयदेव एवं मैथिलकोकिल विद्यापति की ही श्रेणी में आते हैं। उनकी "श्री हित चौरासी" शृंगार-रस की अत्यंत प्रौढ़ एवं उच्च-कोटि की रचना है जिसमें कवि के आराध्य-युग्म की बहुविध प्रेम-लीलाओं का अतिशय रुचिर एवं रस-पेशल वर्णन है। उसके उद्दाम शृंगार के अंतराल में रहस्यमयी माधुर्य-भावना की निगूढ़ धारा बह रही है। वस्तुतः व्रज-भारती के सहज सौंदर्य एवं माधुर्य की पराकाष्ठा का अवलोकन करना हो तो "श्री हित चौरासी" का अनुशीलन करना चाहिए। उदाहरण के लिए उसकी कुछ रचनाएं दी जाती हैं:—

: १ :

जोई जोई प्यारो करै सोई मोहि भावै।
भावै मोहि जोई सोई सोई करें प्यारे॥
मो कों तो भावति ठौर प्यारे के नैननि में।
प्यारो भयो चाहै मेरे नैननि के तारे॥
मेरे तन मन प्राण हू ते प्रीतम प्रिय।
अपने कोटिक प्राण प्रीतम मोसों हारे॥
जै श्री हितहरिवंश हंस हंसिनी सांवल गौर।
कहौ को करै जल तरंगनि न्यारे॥

: २ :

नंद के लाल हर्‌यो मन मोर।
हौं अपनी मोतिन लर पोवति,
कांकर डारि गयौ सखि भोर॥१॥
बंक बिलोकनि चाल छबीली,
रसिक शिरोमणि नंदकिशोर॥२॥
कहि कैसे मन रहत श्रवण सुनि,
सरस मधुर मुरली की घोर॥३॥
इंदु गोविंद बदन के कारन,

चितवन को भये नैन चकोर ॥४॥
जै श्री हित हरिवंस रसिक रस जुवती,
तूं लै मिलि सखी प्राण अकोर ॥५॥

: ३ :

चलहि किन मानिनि कुंज कुटीर ।
तो बिनु कुंवरि कोटि बनिता जुत, मथत मदन की पीर ॥१॥
गदगद सुर विरहाकुल पुलकित, श्रवत विलोचन नीर ।
क्वासि क्वासि वृषभान नंदिनी, विलपत विपिन अधीर ॥२॥
वंशी विसिष व्याल मालावलि, पंचानन पिक कीर ।
मलयज गरल हुतासन मारुत, साखामृग रिपु चीर ॥३॥
जै हितहरिवंश परम कोमल चित, चपल चली पिय तीर ।
सुनि भयभीत बज्र को पंजर, सुरत सूर रणधीर ॥४॥

: ४ :

देखो भाई अबला के बल रास ।
अति गजमत्त निरंकुश मोहन, निरखि बधे लट पास ॥१॥
अबही पंगु भई मन की गति, बिनु उद्यम अनयास ।
तबकी कहा कहौं जब पिय प्रति चाहत भृकुटि विलास ॥२॥
कच संजमन व्याज भुज दरसन, मुसुकनि बदन विकास ।
हा हरिवंस अनीत रीति हित, कत डारत तन तास ॥३॥

: ५ :

प्रात समै दोऊ रस लंपट, सुरत जुद्ध जय जुत अति फूल ।
श्रम वारिज घम विंदु वदन पर, भूषण अंगहि अंग विकूल ॥१॥
कछु रह्यो तिलक शिथिल अलकावलि, वदन,कमल मानो अलि भूल
जै श्री हितहरिवंश मदन रँग रँगि रहे नैन बैन कटि शिथिल दुकूल॥२॥

—:—

एटा,
१५—१—५६

: २५ :

एटा का प्रसिद्ध शिव-पीठ परसौन

एटा के पूर्व लगभग १२ मील की दूरी पर उसी तहसील में "परसौन" नामक एक छोटा-सा गाँव है जो काली नदी के दाहिने किनारे पर बसा हुआ है। गाँव अहीरों की बस्ती है और देखने पर मालूम होता है कि वह कुछ बहुत पुराना नहीं। इसी गाँव से लगा हुआ एक छोटा साधारण-सा शिवाला है जिसका शिव-लिंग परसौन महादेव के नाम से प्रसिद्ध है। एटा ज़िले में इस स्थान का धार्मिक महत्व बहुत अधिक है। वर्ष में भादों सुदी छठ और फागुन सुदी त्रयोदशी को दो बार यहाँ इसी के उपलक्ष्य में बड़ा भारी मेला लगता है। दूर-दूर से लोग सहस्रों की संख्या में यहाँ आकर भगवान् भोलेनाथ का भगवती भागीरथी के परम पावन जल से अभिषेक करते और उनके दर्शनों से अलौकिक आनंद लाभ कर कृतार्थ होते हैं। इन दो पुण्य पर्वों के अतिरिक्त श्रद्धालुओं की साधारण-सी भीड़ यहाँ श्रावण मास के चार सोमवारों को भी हो जाती है।

परसौन का मेला एटा ज़िले के दो सबसे प्रमुख मेलों में से है। उससे बड़ा नहीं तो किंचित अधिक महत्वपूर्ण एवं प्राचीन मार्गशी का सुप्रसिद्ध मेला है जो अगहन सुदी एकादशी को भगवान् वाराह जी की पुण्य स्मृति में सौरों अर्थात् शूकर-क्षेत्र में लगता है। अस्तु, परसौन के मेले का इतिहास अधिक प्राचीन नहीं। कारण, सन् १९११ के एटा डिस्ट्रिक्ट गजेटियर में ज़िले के मेलों की सूची में उसका कोई उल्लेख नहीं है। पूछने पर विश्वस्त-सूत्र से इसकी पुष्टि भी

हुई कि इस मेले का सूत्रपात सकीट के जमींदार रायबहादुर श्री इन्द्र नारायण स्वरूप जी ने प्रायः ४०-५० वर्ष पूर्व किया था। यह अवश्य है कि एक पवित्र शिव-पीठ के रूप में इसकी महिमा का बोध जन-साधारण को इससे पहले भी था। हां उसका आधुनिक विस्तार वस्तुतः समय की देन है।

परसौन के इतिहास का आधार किंवदंतियाँ ही हैं जिनपर विचार करना आवश्यक है। स्पष्ट है कि परसौन एक अपभ्रष्ट शब्द है और लोग इसे परशुराम शब्द से बिगड़कर बना हुआ बताते हैं। उनका कहना है कि त्रेता में इसी स्थान पर श्री परशुराम ने इस शिवलिंग की स्थापना करके भगवान् शंकर का आराधन किया था। इसीलिए उनके द्वारा पूजित इस शिवलिंग का नाम परसौन महादेव है। यह कहना आवश्यक नहीं कि भाषा विज्ञान की दृष्टि से यह व्युत्पति नितांत विचित्र और अयुक्तिसंगत है। ऐतिहासिक दृष्टि से भी इस स्थान का भगवान् जामदग्न्य की तपोभूमि होना ठीक नहीं। वह स्थान तो कहीं विंध्य के दक्षिण में माहिष्मतीपुरी के सन्निकट होना चाहिए। यह दूसरी बात है कि परशुराम नामधारी किसी दूसरे तपस्वी ने यहाँ इस लिंग की स्थापना करके भगवान् शंकर का आराधन किया हो। बात यह है कि कृष्ण की लीला-भूमि ब्रज-प्रदेश से संलग्न इस पांचाल जनपद में शिवोपासना का प्रभाव आज भी व्यातक है। प्रथम तो अंतिम हिंदु सम्राट् श्री हर्ष वर्द्धन की राजधानी कन्नौज दूर नहीं। बाण भट्ट के कथानानुसार यह राजवंश परममाहेश्वर था अतः राज्य का प्रमुख धर्म शैव ही था। दूसरे एटा जिले के चारों ओर स्थित बटेश्वरनाथ (बटेश्वर), जलेश्वरनाथ (जलेसर), जगेश्वरनाथ (पटियाली), और कौलेश्वरनाथ (दक्षिण पाँचाल की राजधानी कपिल) के सुप्रसिद्ध शिव-मंदिर इस बात को पुकार कर कह रहे हैं कि किसी समय यहाँ शैवों का प्राधान्य था। जो हो किंतु परसौन की वास्तविक व्युत्पत्ति तो कुछ और ही जान पड़ती है जिसका संकेत हमें वहाँ की एक दूसरी जन-श्रुति से मिलता है।

कहते हैं आज जिस स्थान पर यह शिव-मंदिर है वहाँ पहले दूर दूर तक फैला हुआ विस्तृत वन था। चारों ओर ढाक, पापड़ी, बबूल, नीम, खजूर अंकोला आदि के वृक्ष तथा हींस, सिहोर और

मकुइया के झाड़ थे। पास में था कालिंद्री (काली नदी) का सुरम्य कछार। आज तो मनुष्य की भूख ने इस जंगल का सफाया कर दिया किंतु फिर भी उस स्थान की हरियाली, वृक्षों की बहुलता और विशेष कर मानव-श्रम-साध्य उपलब्धि के रूप में अमराइयों की छटा वहाँ देखते बनती है। अतः पहले इस भूमि में इधर-उधर के गाँवों के पशु चरने के लिए आते थे। उन्हीं में जमलापुर गांव के एक माली की गाय वहां चरने आती और एक हींस के झाड़ के पास पहुँचकर अपना सारा दूध गिरा देती। शाम को घर पहुँचती तो बछड़े के लिए दूध न रहता। लोगों को बड़ा कौतूहल हुआ। जब मालूम हुआ कि वह जंगल में किसी विशेष स्थान पर रोज़ अपना दूध गिरा आती है तो माली ने जाकर उस स्थान को खोदा। देखा पृथ्वी के गर्भ में भगवान भोलेनाथ विराजमान् हैं। शिव-लिंग को खोदकर निकालने की चेष्टा की गई किंतु वह विफल हुई। अतः उसी स्थान पर उसकी यथावत् प्रतिष्ठा करके मंदिर बनवा दिया गया। भोले देहाती कैसे जानें कि चूने अर्थात् टपकने के लिए जो संस्कृत शब्द है—"प्रस्रवण" उसी से यह "परसौन" शब्द निकला है। अतः स्पष्ट है कि ये "प्रस्रवण-महादेव" ही वस्तुतः उनके "परसौन महादेव" हैं कुछ परशुराम महादेव नहीं।

और भी। कैसे आश्चर्य की बात है कि इतिहास की तरह लोक में जनश्रुतियों की भी यथावत आवृति देखी जाती है। जयपुर के शेखाववटी प्रांत के अभिनव जैन-तीर्थ महावीर जी के प्राकट्य की कथा भी बिलकुल यही है। उसके विषय में भी कहा जाता है कि वहाँ भी जंगल में एक स्थान पर एक ग्वाले की गाय नित्य जाकर अपना दूध गिरा देती थी। बाद में जब ग्वाले को इसका पता लगा तो उसने उस स्थान को खोदकर उस मूर्ति को निकाला।

अस्तु, परसौन के मंदिर की व्यवस्था का अधिकार जमलापुर के मालियों को प्राप्त है जिनके पूर्वज ने इस महामहिम लिंग का उद्घाटन एवं स्थापन किया था। वही अद्यावधि उसकी पूजा-भेंट भी लेते हैं। इस संबंध में सकीट के कायस्थ जमींदार और मालियों में परस्पर मुक़दमेबाज़ी हो चुकी है। जमीदार चाहता था कि मंदिर की सेवा का अधिकार उसको प्राप्त हो। कहा जाता है कि जब दोनों पक्षों की सम्मति से इसके निर्णय का भार भगवान् भोलेनाथ पर छोड़ दिया

गया तो वे जमलापुर की तरफ़ ढल गए। उस गाँव की दिशा में झुका हुआ शिव-लिंग आज भी देखा जा सकता है। अस्तु, मंदिर के चढ़ावे को छोड़कर मेले का शेष प्रबंध और उसकी वसूली वहाँ का जमींदार ही करता है। कहा जाता है कि अब इस मेले की आय से लाभान्वित होने का प्रयत्न ज़िला बोर्ड भी कर रहा है।

परसौन के मेले का धार्मिक महत्व तो है ही, किंतु प्रत्येक भारतीय मेले के समान उसका सामाजिक एवं आर्थिक महत्व भी कम नहीं है। इसके बहाने दूर-दूर के लोगों का परस्पर सभागम होता है साथ ही ग्रामीण जनों के लिए उपयोगी वस्तुओं का खूब क्रय-विक्रय भी। हर तरह का काठ-कबाड़, कपड़ा-लत्ता और सबसे बढ़कर एक से एक सुंदर बछड़ों की जोड़ियाँ, जिन्हें देखकर भूख भागती है और जिनकी संख्या का पार पाना कठिन होता है, यहाँ बिकने के लिए आती हैं। नंदीश्वर का दर्बार ही ठहरा न!

अस्तु, उत्ताल तरंगों से युक्त पावसी कालिंद्री का यह हरा-भरा कछार इन अवसरों पर कुछ दिनों के लिए असंख्य दर्शनार्थियों के श्रद्धा-विगलित स्वर से निनादित हो जाता है। जहाँ तक देखो मानव ही मानव दृष्टिगोचर होते हैं। श्रद्धालुओं के इस अविरल जन-समूह के बीच सबसे अनुपम दृश्य होता हैं उन परम शिव भक्तों का जो अपने कंधों पर पवित्र गंगा-जल से युक्त काँवरों को रखे उतावली से मंदिर की ओर अग्रसर होते हैं और मस्ती के साथ गाते हैं—

शिव समान दाता नहीं, (सौ कोई) बिपत विदारन हार।
लज्जा मेरी राखियो, (सौ कोई) बरधा के असबार॥
कै बोली भाई बंबे.....श्री गंगे!

—:—

एटा,
कृष्ण जन्माष्टमी,
१०-८-५५

: २६ :

ध्वंस-शेष अतरंजी खेड़ा

परिचय — एटा नगर के उत्तर लगभग दस-बारह मील की दूरी पर काली नदी के दाहिने किनारे एक ऊंचा-सा विस्तृत टीला है जिसे लोग अतरंजी खेड़ा कहते हैं। यह ३९६० फ़िट लम्बा, १५०० फ़िट चौड़ा और ६५ फ़िट ऊँचा है। घास, अड़ूसे और हींस के झाड़ों से ढके, चूने, मिट्टी और ईंटों के इस विपुल ढेर को किसी विशाल प्राचीन नगर का ध्वंस-शेष बताया जाता है। इस टीले के एक ओर गुरहाबाद कल्याणपुर और अचलपुर नामक गाँव हैं और दूसरी ओर नदी के उस पार बाँस का नगला और सिकंदराबाद। "आइने-अकबरी" में इस स्थान का उल्लेख कन्नौज सरकार के अंतर्गत "सिकंदरपुर-अतरेज़ी" नामक परगने के रूप में हुआ है। जब-तब की खुदाई से प्राप्त हुई सामग्री से यह स्पष्ट हो जाता है कि यह स्थान निश्चित रूप से कभी बौद्धों का केंद्र रहा है - विशेषकर महायान संप्रदाय का। परंतु इन सबसे बढ़कर बात है अतरंजी खेड़े का चक्रवर्ती महाराज वेन की पुरी होना जिसकी पोषिका वहाँ की एक अत्यंत प्रचलित एवं परम्परागत जनश्रुति है। इस जनश्रुति का संबंध है एटा जनपद की बहुसंस्थक अहीर जाति से जो महाराज वेन को अपना पूर्वज और आदि सम्राट् कहती है।

जनश्रुति—कहा जाता है, अत्यन्त प्राचीन काल में इस स्थान पर एक विशाल और समृद्ध पुरी थी जहाँ वेन नामक एक धर्मात्मा और प्रजा-पालक

आभीर राजा राज्य करता था। उसका राज्य दूर २ तक फैला था। प्रजा सुखी और संपन्न थी। राजा उससे किसी प्रकार का कर न लेता था। प्रजा उसे अन्नादि के रूप में जो कुछ उपहार देती वह नम्रता पूर्वक स्वीकार कर पुनः उसी को लौटा देता। कहा जाता है कि उसके पास पारस-मणि थी जिसके कारण उसका राज-कोश सदा भरा-पुरा रहता था। किन्तु, उस राज-कोश से वह अपने निजी व्यय के लिए कुछ न लेता था। वह पंखे बुनता और उन्हीं के विक्रय से अपना निर्वाह करता। उसकी रानी पतिव्रता थी। वह कच्चे सूत से घड़ा खींचती और कमल-पत्र पर बैठकर सरोवर में स्नान करती। उसके सत से जल-पूर्ण घट से संबद्ध न तो कच्चा सूत टूटता और न उसके बोझ से पुरइन डूबता। एक दिन की बात। श्रावणी का पर्व था। प्रजा-जन जौ के नवांकुरों से परिपूर्ण मृत्तिका-पात्रों को नदी में विसर्जित करने के लिए एकत्र हुए। रानी ने दुर्ग से देखा, प्रजा नाना प्रकार के रंग-विरंगे और बहुमूल्य वस्त्रालंकारों से सुसज्जित है। उसके मन में ईर्ष्या हुई। वह सोचने लगी-"उसका भी कोई जीवन है? वह राज-रानी है, किंतु पति की त्याग-वृति के कारण उसका रहन सहन प्रजा के सामान्य जन से भी गया-बीता है। काश, आज वह एक चक्रवर्ती सम्राट की महिषी होने की अपेक्षा किसी साधारण नागरिक की वधू होती। निदान उसके आग्रह से राजा ने अपनी इच्छा के विरूद्ध प्रजा पर साधारण-सा कर लगा दिया। हल पीछे एक कौड़ी। किन्तु किसी भावी अनिष्ट की आशंका से वह आकुल हो गया। देखा रानी ने जब कुंए से जल खींचा तो कच्चा सूत टूट गया, और जब वह पुरइन पर बैठ कर नहाई तो वह भी जल में डूब गया। राज-दंपति का सत जाता रहा। कहा जाता है उसी पाप के कारण किसी भयंकर दैवी प्रकोप से वह नगर विध्वस्त हो गया और वह राज्य भी समाप्त हो गया!

पौराणिक वेन—हिंदु-पुराणों में वेन की कथा आती है किंतु एक भिन्न रूप में! महाभारत तथा विष्णु, श्रीमद्भागवत और हरिवंश पुराणों में उसे स्वायंभुव मनु के वंशज अङ्ग का पुत्र कहा गया है। इन ग्रन्थों के अनुसार वह विधि विरोधी, अनीति-परायण और अत्याचारी शासक है। धर्मात्मा और प्रजा-पालक नहीं। वह अपनी प्रजा को नाना प्रकार से उत्पीड़ित करता है और घोषणा करता है कि, "उसके राज्य में

देवताओं के निमित्त बलि न दी जाए। प्रजा के लिए राजा ही एकमात्र संपूजनीय और संवर्द्धनीय है। अतः प्रजा के द्वारा प्रत्येक धार्मिक किंवा लौकिक कर्म उसी के निमित्त किया जाना चाहिए। आदि।" इस राजाज्ञा से प्रजा बड़ी क्षुब्ध हुई। उसने विरोध किया। ब्राह्मणों ने वेन से बार बार प्रार्थना की कि वह इस अन्याय-मूलक एवं धर्म-विरुद्ध आदेश का प्रत्याहार करे किंतु उसने कुछ न सुना। विवश होकर ब्राह्मणों ने मंत्र-पूत कुशा से उसका वध कर दिया। वेन निःसंतान था। अतः राजा के अभाव में राज्य में अराजकता फैल गई। ब्राह्मणों ने वेन के मृत शरीर की जंघा का मंथन किया जिससे पाप-स्वरूप, कृष्ण-काय निषाद अर्थात् भिल्ल की उत्पत्ति हुई और दाहिनी भुजा के मंथन से तेजस्वी पृथु की। निषाद विंध्य की ओर चला गया और सिंहासन पर बैठा। यही पृथु आर्यों का आदिम सम्राट था जिसके नाम से धरा की संज्ञा पृथ्वी हुई।

कथा के पौराणिक संस्करण की विवेचना—उक्त कथा से यह तो स्पष्ट है कि महाराज वेन को किसी जबरदस्त राजनीतिक क्रांति का शिकार बनना पड़ा था। कारण था उसका यज्ञ और श्रुति का विरोधी होना। स्पष्ट ही जैन और बौद्ध दोनों ही धर्म यज्ञ और वेदों के विरोधी हैं। तो क्या वेन किसी वेद-बाह्य धर्म का अनुयायी था?...हां। पद्म-पुराण से इसकी पुष्टि होती है जहाँ वेन के किसी जैन यती द्वारा दीक्षित होने की बात का स्पष्ट उल्लेख है। अतः कहा यह भी जा सकता है, और ज़ोर के साथ कि पुराण-कार का वेन को सूर्य-वंशी क्षत्रिय लिखना भी प्रयोजन से रहित नहीं। इसका कारण है संभवतः वेन के वंशज पृथु को आर्य होने का गौरव देना जिसने उक्त क्रांति के बाद वैदिक धर्म और संस्कृति को अंगीकार कर उसका पोषण किया था। हिंदु शास्त्रों के अनुसार आभीर ब्राह्मण पिता और अंबष्ठा माता के योग से उत्पन्न एक वर्ण-संकर जाति है। पुराणों में उसके लिए "दस्यु" और "म्लेच्छ" शब्दों का प्रयोग हुआ भी है। किंतु यह सब ऐतिहासिक तथ्यों के विरुद्ध होने से निराधार और विडंबनापूर्ण है। कहना न होगा कि जहां तक महाराज वेन के इतिहास का संबंध है उक्त प्रचलित जन-श्रुति ने ही उनके कुल-शील के विषय में पुराणों की अपेक्षा सत्य की अधिक रक्षा की है।

निबंध-शेखर :

ध्वंस-शेष अतरंजी खेड़ा

अतरंजी के स्वर्णिम अतीत की मूक साक्षी कालिंद्री (कालीनदी)।

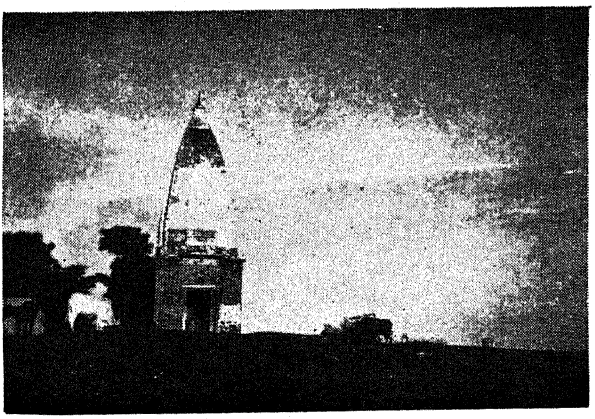

संभावित प्राचीन स्तूप किंवा चैत्य के ध्वंस पर निर्मित शिव-मंदिर।

अभीर जाति का इतिहास—श्री कुमार स्वामी के कथनानुसार "आ-भीर" द्रविड़ भाषा का शब्द है जिसका अर्थ है "गो-पाल"। अतः विद्वानों के मत से यह एक घुमक्कड़ और पशुपालक जाति थी। जो अत्यंत प्राचीन काल में भारतवर्ष में विद्यमान थी। डाक्टर भांडारकर के मत से मधुपुर से लेकर आनर्त और अनूप देश तक का प्रदेश इसके अधिकार में था। विष्णुपुराणकार और वराहमिहिर ने उसे कोंकण और सौराष्ट्र के आस-पास रहने वाला बताया है। काठियावाड़ से प्राप्त एक लेख के आधार पर शकाब्द १०२ अर्थात् २३७ वि० में आभीर राज्य करने लगे थे। वायु-पुराण में आभीर राजाओं की वंशावली का उल्लेख है। इन सारी बातों के आधार पर कहा जा सकता कि कदाचित् आभीर भारतवर्ष की अधिवासिनी एक अत्यंत प्राचीन आर्येतर जाति है जिसने इस देश में पशु पालन की स्थिति से लेकर साम्राज्य-स्थापना तक के सांस्कृतिक विकास का अनुभव किया है। और यदि वह इस देश में कहीं बाहर से भी आई है तो वह काल ईसवी सन् के पहिले ही होना चाहिए। कहने का तात्पर्य यह है कि आभीर जाति के इतिहास के आधार पर इसे स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं जान पड़ती कि अतरंजी खेड़े में कभी वेन का चक्रवर्त्ती राजा था जो आभीर था, और था साथ ही धर्मात्मा और प्रजा-पालक। कालांतर में किसी धार्मिक अशांति अथवा राजनीतिक उथल-पुथल से उसका विनाश हुआ। उसके कुल में कुछ आर्य धर्म अंगीकार करने से आगे भी राज्य करते रहे और कुछ विंध्य की ओर निर्वासित हो कोल और भीलों का जीवन व्यतीत करने के लिए वाध्य हुए

काल की दो सीमाएं—अस्तु अतरंजी खेड़े के इतिहास की एक सीमा यही राजा वेन है जिसकी कथा बहुत कुछ प्रागैतिहासिक युग की ओर संकेत करती है, और दूसरी सीमा है मुसलमान बादशाह मुहम्मद ग़ौरी जिसने कहते हैं, सन् ११९४ के आस-पास कन्नौज के महाराज जयचंद राठौर पर चढ़ाई करने के पूर्व इस दुर्ग को विध्वस्त किया था एटा गजेटियरकार श्री ई० आर० नीव ने लिखा है कि इस समय अतरंजी खेड़े का राजा कोई चौहान वंशी राजपूत था यद्यपि इससे पूर्व ईसा की छठी शताब्दी से लेकर प्रायः दसवीं

शताब्दी तक यही क्या जिले के विभिन्न भागों में सर्वत्र अहीरों का राज्य था। जो हो, मुहम्मद गौरी की सेना इस दुर्ग को जीतने में कई बार विफल हुई। अन्त में बादशाह ने स्वयं आकर युद्ध का संचालन किया तब कहीं कठिनाई के बाद इसे हस्तगत किया गया। मुसलमानों की ओर से इस युद्ध से हज़रत हसन नामक कोई उच्च पदाधिकारी मारा गया था जिसकी क़ब्र खेड़े के समीप आज भी स्थित है। अस्तु, काल के इतने सुदीर्घ व्यवधान में कौन कह सकता है अतरंजी खेड़ा कितनी मानव-जातियों के जीवन-निश्वासों का वाहक कितने धर्म और रूढ़ियों का आश्रयदाता, कितने क्रीड़ा-कौतुक और रंग-रभसों का लीला-स्थल तथा कितने षड्यंत्र और संगरों का साक्षी रहा है।

ऐतिहासिक सामग्री—सत्रह सौ बीघे में फैले हुए इस विस्तृत टीले पर पहली चीज़ जो किसी पर्यटक को दिखलाई पड़ती है वह हैं मिट्टी के बर्तनों के ठीकरे। चारों ओर जहाँ तक दृष्टि जाती है टूटे-फूटे प्याले, तश्तरियाँ, हाँडियाँ, कूँडे, घड़े और बरतने आदि चूर-चूर होकर मिट्टी में मिलने के लिए आतुर दीख पड़ते हैं। मालूम होता है इस स्थान को विध्वस्त करने के उपरांत यहाँ कुछ काल के लिए मुहम्मद गौरी की सेना ने विश्राम किया है। कहा यह भी जाता है कि इस ज़िले के गंजडुंडवारा नामक स्थान के जुलाहे पहले इसी टीले के पास गुरहाबाद में रहते थे। अस्तु, अतरंजी खेड़े पर हज़रत हसन के मज़ार के रूप में मुसलमान-संस्कृति की एक हल्की-सी छाप आज भी अंकित देख पड़ती है।

अतरंजी खेड़े का विधिवत उत्खनन तो नहीं हुआ किंतु कभी मानव और कभी स्वतः प्रकृति ने इस रहस्यमय पोथी को उलटने का प्रयत्न अवश्य किया है। आंधी-तूफ़ान और वर्षा-कालीन जल के रेलों ने बलात् उसके लौह-आवरण को हटाकर उसके अंतस् में झांक कर देखा है उन पक्की दो-दो हाथ लाँबी ईंटों को जो उसकी दीवारों में चुनी हुई हैं, और जो निश्चित रूप से कम से कम गुप्त-काल की ओर संकेत करती हैं, उन शिव-लिंगों, नंदी और गणेश आदिक मूर्तियों को जो संभवतः या तो उक्त काल की ही देन हैं अथवा उससे पूर्व हिंदु-धर्म के पुनरुत्थान कालीन भारशिवों किंवा वाकाटकों की। कितनी सुंदर और कलापूर्ण हैं ये मूर्तियाँ। अचलपुर गाँव के

शिवाले में बाहर दो नंदीश्वर विराजमान् हैं। खंडित होने पर भी वे अतिशय मनोज्ञ हैं। ऐसा प्रतीत होता है मानों अभी बोलना चाहते हैं। खेड़े के चारों ओर गाँवों में इस प्रकार के मूर्ति-खंड श्रद्धा के साथ किसी वृक्ष के नीचे अथवा वेदिका पर स्थापित आपको मिलेंगे। अचलपुर गाँव में संभवतः इसी खेड़े से प्राप्त एक भगवती लक्ष्मी की मूर्ति है जिसे एक माली ने गांव के चौराहे पर कर्णिकार के झुरमुट में स्थापित किया है। इसमें बीच में लक्ष्मी जी खड़ी हैं और पार्श्व में कमल-पुष्पों पर स्थित दो हाथी अपनी शुंडों में जल-कलश लिए उनका अभिषेक कर रहे हैं। हाथियों के नीचे दोनों ओर देवता अपनी स्त्रियों सहित भगवती का स्तवन कर रहे हैं।

हाँ, खेड़े पर सबसे अधिक मूर्तियाँ मिलती हैं बौद्ध धर्म की। कहीं कहीं तो ये मूर्तियाँ खंडित हैं और प्राचीन कुओं में चुनी हुई देखी जाती हैं। यह बात किसी ऐसे युग की ओर संकेत करती है जब देश में न केवल बौद्ध धर्म का ह्रास ही हो रहा था अपितु हिंदु-धर्मावलंबियों में उसके विरुद्ध एक विषाक्त वातावरण पैदा हो गया था। यहां तक कि खेड़े के पास अचलपुर गाँव में एक ऊंचे-से टीले पर बने हुए शिवाले के नीचे किसी प्राचीन बौद्ध मंदिर के होने की संभावना निश्चित है। कारण, एक तो खुदाई कराने पर उसके नीचे दीवारों की चिनाई निकली है दूसरे उस खुदाई में पत्थर के पतनाले, किवाड़ों की खूंमियाँ और कोठरियों के चिन्ह पाए गए हैं। अनुमान का एक प्रबलतर आधार और भी है। खेड़े के चारों ओर स्थित ऐसे ही छोटे-छोटे टीलों के लिए जिन्हें लोग दुर्ग की चौकियाँ बताते हैं, "ठेरियां" शब्द का प्रयोग होता है। "ठेरिया" स्पष्ट ही "थेर" किंवा "थेरिया" शब्द का रूपाँतर है जो संस्कृत शब्द "स्थविर" का प्राकृत रूप है। स्थविर बौद्ध संघाराम के अधिकारी भिक्षु को ही कहते हैं। अतः कहा जा सकता है कि उक्त जिन "ठेरियों" को लोग दुर्ग की चौकियां कहते है वे प्राचीन-काल में दुर्ग के चारों ओर स्थित बौद्ध विहार ही हों। उक्त संभावना का पोषण एक प्रचलित किंवदंती से भी होता है। कहा जाता है राजा वेन के दुर्ग की रक्षा भगवान् का चक्र करता था, सेना नहीं। दुर्ग के चारों ओर वही चक्र निरंतर फेरी देता था। स्पष्ट

ही यह चक्र विष्णु का सुदर्शन न होकर कदाचित् भगवान् बुद्धदेव द्वारा प्रवर्तित धर्म-चक्र है जो एक शुभ धार्मिक चिन्ह होने के कारण प्रत्येक बौद्ध मंदिर अंकित रहता है विशेषकर बुद्ध-प्रतिमा में। अतः यह जोर देकर कहा जा सकता है कि अतरंजी खेड़े के चारों ओर स्थित ये "ठेरियां" निश्चय ही प्राचीन बौद्ध-विहारों के अवशेष हैं और कुछ नहीं।

खेड़े पर पाई गई कुछ मूर्तियाँ गुरहाबाद में भी हैं जो गाँव के उत्तर एक चबूतरे पर रखी हैं और माता के नाम से पूजी जाती हैं। इनमें से एक मूर्ति ध्यानावस्थित मुद्रा में विराजमान् बुद्ध और उनकी शक्ति की है। एक दूसरी मूर्ति बोधिसत्व की है। खंडित मूर्तियों के अवशेष तो और भी हैं। ये मूर्तियाँ कम से कम कुषाण-काल की ओर तो संकेत करती ही हैं जब महायान के प्रचार के कारण न केवल बुद्ध प्रतिमाओं की पूजा-अर्चा ठाट-बाट से होने लगी थी अपितु तारा, प्रज्ञा-पारमिता एवं बोधिसत्व आदिक अनेक देवी-देवताओं की कल्पना भी करली गई थी।

अतरंजीखेड़े पर पाई गई सबसे प्रमुख और मूल्यवान् ऐतिहासिक सामग्री चांदी के सिक्के हैं। कहते हैं यहां सोने और चांदी के सिक्के भी मिले हैं, पर मेरे देखने में नहीं आए। अस्तु, उक्त चांदी के सिक्कों में, जहाँ तक मैं समझता हूँ, युग घट सहित बछे का चिन्ह है। सिक्के गोल या चौकोर न होकर अनगढ़ और विशुद्ध चाँदी के हैं। इसका आकार क्रमशः छोटे पैसे, धेले और पाई जैसा है। चित्र तीनों पर यही हैं। इन सिक्कों की परीक्षा इतिहास के विद्वानों का कर्तव्य है। साधारणतः यह कहा जा सकता है कि वे कदाचित् ईसवी पूर्व के हो सकते हैं।

अभिशप्त पुण्य-भूमि—अस्तु, इस अभिशप्त पुण्य-भूमि की कथा रोचक ही नहीं, रोमांचकारी भी है। अभिशप्त इसलिए कि वह किसी को फलीभूत नहीं होती। वहाँ मिला हुआ धन, उसकी ईंटों के मकान, उस पर की हुई खेती भोक्ता के सर्वनाश का कारण होती है। और, पुण्य-भूमि इसलिए कि कोई दीन-दुखी और असहाय वहाँ से मग्न-मनोरथ नहीं लौटाता। सुबह से शाम तक टीले पर ईंट-पत्थरों को

निबंध-शेखरः

ध्वंस-शेष अतरंजी खेड़ा

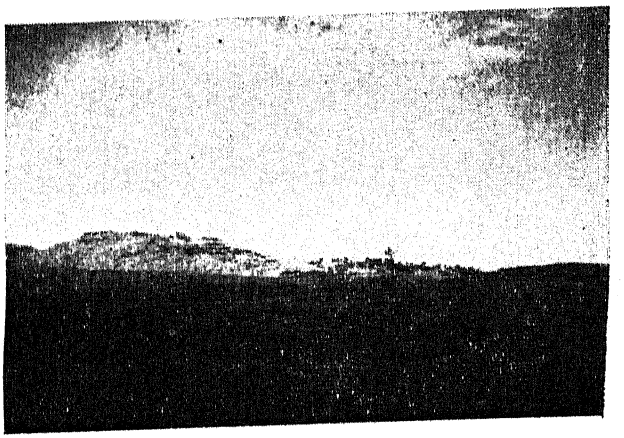

ईंट-पत्थरों का विपुल ढेर अतरंजी खेड़ा

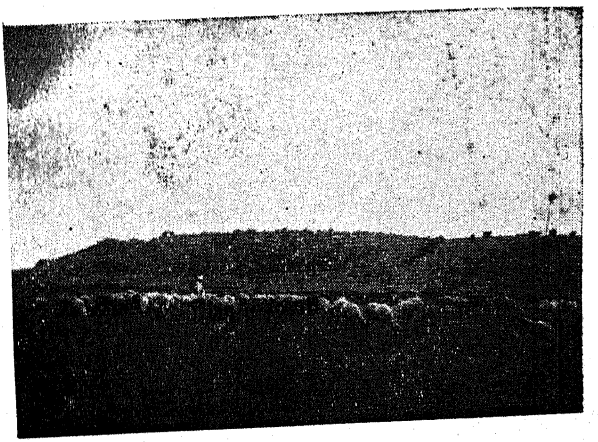

भेड़-बकरियों का चराह-गाह-अतरंजी खेड़ा

इधर-उधर करते रहने पर उसे मज़दूरी के पैसे वहाँ निश्चित रूप से मिल जाते हैं। अतरंजी खेड़े के विषय में नाना प्रवाद प्रचलित हैं। लोग कहते हैं कि वह भूतों का डेरा है, रात को कभी-कभी वहाँ से रहस्यपूर्ण आवाजें सुनने में आतीं हैं। हो सकता है। चिरकाल से परित्यक्त एक निर्जन स्थान और होगा भी क्या? पर वह वस्तुतः क्या था इसे आज कौन कहे? निकटस्थ प्रवहमाना मूक-मंथर कालिंदी को छोड़कर आज उसके स्वर्णिम अतीत का साक्षी भी कौन है? उसके दूर-दूर तक बिखरे हुए ईंटों के ढेर और प्रस्तर-खंड न जाने कौन-सी अपूर्व गाथा अपने अंचल में छिपाए हुए हैं। विशाल-काय स्तूपीभूत इस सांस्कृतिक शव को जो देखता है, देखता रह जाता है!

—:—

एटा,
१२—६—,५५

: २७ :

ब्रज का महत्वपूर्ण स्थान—बरहद

"तीन लोक से न्यारी" मथुरा नगरी के चारों ओर चौरासी कोस पर्यंत फैला हुआ विस्तृत भूभाग चिरकाल से ब्रज नाम से ख्यात है। नारद - पुराण में लिखा है—

"विंशतिर्योजनानां च मथुरा मम मंडलं।
यत्र यत्र नरः स्नातो, मुच्यते सर्व पातकैः॥

सूरदास ने भी कहा है—

"चौरासी ब्रज कोस निरंतर खेलत हैं बल मोहन।"

अस्तु, यद्यपि यह सत्य है कि वैदिक साहित्य में "ब्रज" शब्द का प्रयोग "गोचर-भूमि" किंवा "बाड़े" के अर्थ में हुआ है, किंतु यह कहना कि मंडल अथवा जनपद के रूप में उसका प्रचलन १४ वीं शताब्दी में हुआ, निराधार है। प्रमाण के लिए उक्त श्लोक पर्याप्त है। साथ ही यह भी जान लेना आवश्यक है कि ब्रज-मंडल न तो कोई राजनीतिक सीमा है, और न मात्र किसी भाषा विशेष का क्षेत्र ही। इसलिए कि ये दोनों ही परिवर्तनशील चीजें हैं। किसी राजनीतिक सीमा का तो ठिकाना क्या ? रही भाषा की बात, सो ब्रज - भाषा के वर्तमान विस्तार को देखते हुए कौन कहने का साहस कर सकता है कि यह समस्त विशाल भूखंड प्राचीन - काल में कभी किसी तथाकथित जनपद या राजनैतिक इकाई के रूप में रहा होगा सच तो यह है कि ब्रज अथवा ब्रज-मंडल एक भक्ति - मूलक पद है और इसके वाचक

निबंध-शेखरः

ब्रज का महत्वपूर्ण स्थान-बरहद

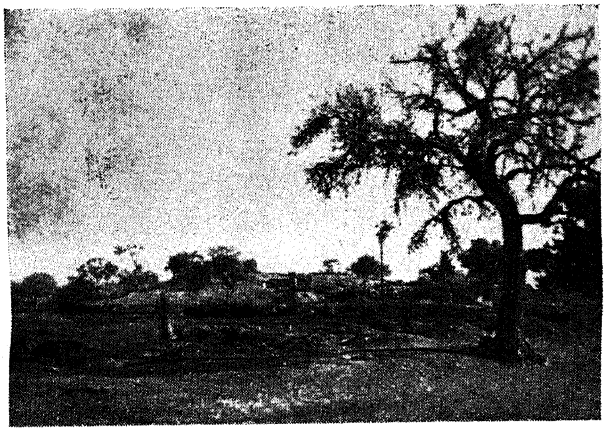

बरहद गाँव

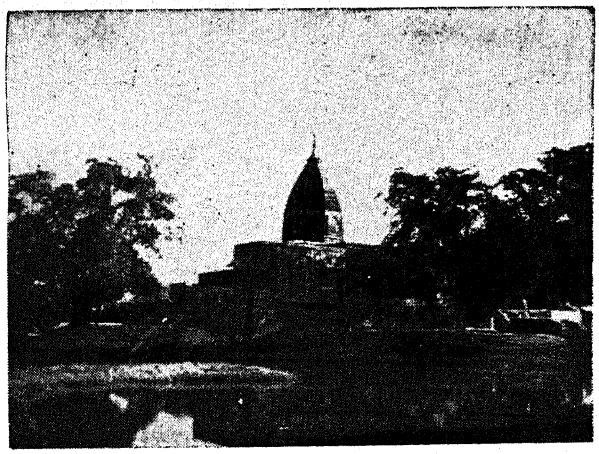

बरहद का रमणीक सरोवर और दाऊ जी का प्रसिद्ध मंदिर

प्रदेश का घनिष्ट संबंध है नंदनंदन श्रीकृष्ण के बाल्य - जीवन से– उस जीवन से जो "विष्णु" "नारद" "ब्रह्म - वैवर्त" और "श्रीमद्-भागवत" आदिक पुराणों का सार एवं भक्तों का सर्वस्व है। इसका यत्किंचित आभास हमें आज भी ब्रज की चौरासी कोस की यात्रा में मिल जाता है। कहना न होगा कि इस यात्रा के अंतर्गत मथुरा जिले के अतिरिक्त कुछ ऐसे भाग भी हैं सम्मिलित हैं जो पूर्व में अलीगढ़, पश्चिम में भरतपुर, उत्तर में गुड़गांव और दक्षिण में आगरा जिले में पड़ जाते हैं। ब्रज की पूर्वी सीमा पर स्थित अलीगढ़ जिले का बरहद नामक गांव ऐसे ही स्थानों में से एक है।

अस्तु, मथुरा जिले के पूर्व अलीगढ़ जिले की एक दूसरी से सटी दो तहसीलें हैं। हाथरस और सिकंद्राराऊ। इन दोनों के बीच सीमा बनाती हुई एक छोटी-सी नदी बहती है जिसका नाम सेंगर है। बरहद इसी नदी के बाँये किनारे पर बसा हुआ सिकंद्राराऊ तहसील का छोटा-सा गाँव है। यह हाथरस के पश्चिम लगभग २० मील की दूरी पर स्थित है इसके पूर्व में गांगरौल, पश्चिम में थिरामई, उत्तर में विजयगढ़ और दक्षिण में मतवारी नामक गांव हैं।

बरहद में सौ सवासौ घर होंगे ... कच्चे ... मिट्टी के। इसमें यों तो सभी जातियों के लोग रहते हैं किंतु अधिकता कहार, गड़रियों और जाटवों की हैं। कुछ घर अहीरों और ब्राह्मणों के भी हैं। शेष सात-आठ घर नाऊ, धोबी, बढ़ई, कढ़ेरा और हरिजन सबके मिलाकर हैं। गाँव की जन-संख्या लगभग ५०० होगी। गाँव के पश्चिम ओर विस्तृत ताल और श्री बलदेव जी का मंदिर है। मंदिर के ही निकट पाँच-छः घर पंडों के हैं जो अपने को सनाढ्य कहते हैं। इनके गोत्र भारद्वाज और विश्वामित्र हैं। मंदिर की पूजा तथा व्यवस्था का भार परंपरा से इन्हीं लोगों पर है।

बरहद में विशेष उल्लेख योग्य दो ही वस्तुएँ हैं: एक ताल, जो प्राचीन है और लगभग डेढ़ मील के घेरे में फैला हुआ है, दूसरा दाऊ जी अर्थात् बलदेव जी का मंदिर। ताल, कहते हैं, स्वयं श्री बलदेव जी द्वारा निर्मित है। इसके पूर्व में बरहद गाँव की बस्ती, पश्चिम में कंकरीला टीला जिसे अंकोला कहते हैं, उत्तर में खेत और दक्षिण

में उक्त मंदिर है। इस ताल में कमल के पुष्प बहुतायत से होते हैं और इसका जल भी कभी नहीं सूखता।

ताल के पश्चिम ओर पत्थर की ऊंची कुर्सी पर दाऊ जी का विशाल प्राचीन मंदिर है जिसे कहते हैं मुड़सान के राजा पोपसिंह के पिता ने बनवाया था। इसकी नींव कंकरों की और चिनाई चूने और ककैया ईंटों की है। ऊपर चूने का पलस्तर है जो अब काला पड़ गया है। मंदिर का चबूतरा तथा पाये लाल पत्थर के हैं। जगमोहन में सामने पूर्व की ओर तीन दरवाज़े तथा पार्श्व में दोनों ओर परिक्रमा के लिए एक-एक दरवाज़े हैं। गर्भगृह में सामने की ओर सिंहासन पर श्री बलदेव जी की काले पत्थर की आदम-क़द अत्यंत सुंदर मूर्ति विराजमान है। मूर्ति का एक हाथ छाती पर और दूसरा शिर पर है जिससे प्रतीत होता है कि वह संभवतः नृत्य-मुद्रा में है। ग्रीवा में मोतियों की माला तथा शिर पर छत्राकार शेषनाग का फन है जो उनके अवतार का सूचक है। जगमोहन की छत तथा दीवारों पर कृष्ण-बलदेव जी की ब्रज-लीलाओं के चित्र हैं जो अनुमानतः मंदिर के साथ ही बने होंगे। मंदिर के बाहर दीवार पर एक ओर महावीर जी की मूर्ति है जो निस्संदेह नवीन परिवर्द्धन है। पश्चिम ओर यात्रियों के विश्रामार्थ कुछ कोठरियां तथा बरामदे है। ये भी बाद के बने हैं। इन्हीं के पीछे मैदान में छायादार वृक्षों के नीचे एक पुराना कुंआ है।

गांव की पृष्ठि-भूमि—बरहद प्राकृतिक सौंदर्य से समृद्ध है। यद्यपि मनुष्य की भूख ने इस सुविस्तृत, सहज रमणीय बन को काट-काट कर खेतों में परिणत कर दिया है तथापि सर्वत्र ढाक, बबूल, शीशम, खजूर, पीपल, बरगद, गूलर और पसेंदू आदि नाना प्रकार के वृक्ष पर्याप्त संख्या में दृष्टिगोचर होते हैं। जहाँ-तहाँ करील हींस और अडूसे के झाड़ हैं। कहते हैं पहले यहाँ मुड़सान से लेकर अकराबाद तक कोई बस्ती न थी। सर्वत्र वन ही वन था जिसमें हिंस्र पशु भी रहते थे। सर्प तो यहाँ अब भी बड़ी संख्या में निकलते हैं, पर प्रवाद है कि पैरों में आ जाने पर भी किसी को काटते नहीं। कहते हैं किसी सपेरे ने इस जंगल को कील दिया

निबंध-शेखर :

ब्रज का महत्वपूर्ण स्थान-बरहद

बरहद का जीवन

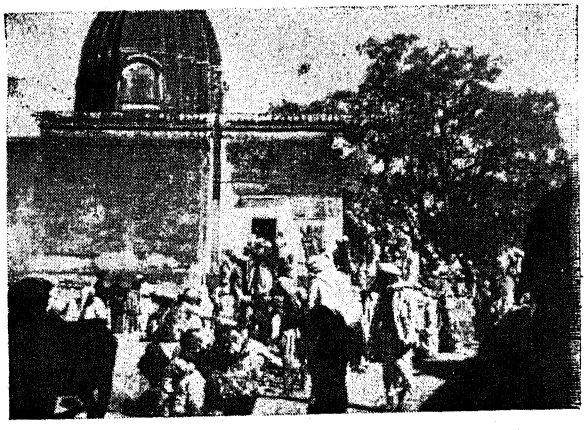

पूर्णिमा के मेले पर बरहद का दृश्य

है। जो हो, वर्षा-काल में सांप पकड़ने के लिए सपेरे यहाँ अब भी बहुत आते हैं।

बरहद का इतिहास—बरहद का इतिहास इतिहास कम और पुराण तथा जन-श्रुति अधिक है। यह निश्चित है कि दीर्घकाल से इसे ब्रज के महत्वपूर्ण स्थानों के अंतर्गत माना जाता रहा है। प्रसिद्ध है:—

इत बरहद उत सोनहद, उत सूरसेन को गाम।
ब्रज चौरासी कोस में, मथुरा मंडल धाम॥

ब्रज का विस्तार चौरासी कोस है इसकी पुष्टि "नारद-पुराण" के मथुरा-माहात्म्य तथा सूरदास के पूर्वोक्त कथन से हो जाती है। मथुरा को केंद्रस्थ मानकर निर्धारित की गई उक्त सीमाएं भाषा, संस्कृति, प्राकृतिक शोभा, धार्मिक विश्वास एवं रीति-नीति आदिक सभी दृष्टियों से समीचीन है। बरहद मथुरा से प्रायः २०-२२ कोस है। अतः वह ब्रज का अभिन्न भाग है। इसमें कोई संदेह नहीं। जन-साधारण में बरहद का ब्रज-हद अर्थ प्रचलित भी है। ऊंचेगांव के प्रसिद्ध कृष्ण-भक्त नारायण भट्ट (सन् १५६० ई०) ने अपने "ब्रज-भक्ति-विलास" नामक ग्रंथ में ब्रज की सीमाओं का वर्णन निम्नलिखित श्लोक में किया है:—

"पूर्वे हास्य-वनं नीय पश्चिमस्योपहारिकं।
दक्षिणे जन्तु संज्ञाख्यं भुवनाख्यं तथोत्तरे॥

श्री ग्राउज़ के मेमोअर के आधार पर श्री कृष्ण दत्त जी वाजपेयी ने अपने "ब्रज-प्रदेश के इतिहास" में उक्त "हास्य-वन" को बरहद ही स्वीकार किया है। अतः बरहद का एक प्राचीन नाम हास्य-वन भी हुआ। स्थान की प्राकृतिक शोभा को देखते हुए यह नाम सार्थक ही जान पड़ता है। विविध पशु-पक्षियों के कलरव से गुंजित तथा नाना प्रकार के पुष्पों से अलंकृत इस परम रमणीय वन को किस सहृदय ने हास्य-वन की संज्ञा दी, नहीं कहा जा सकता!

बरहद का अर्थ—बरहद शब्द का प्रचलित अर्थ है 'ब्रज-हद'। ब्रज की सीमा का आशय ग्रहण कर यही लोग कहते भी हैं। किंतु यह कदाचित् अर्थ नहीं, आरोपित उपाधि है। इस अर्थ में हद शब्द

अरबी होने के कारण स्थान की प्राचीनता का सूचक नहीं। कुछ लोग बलदेव जी के पाप-सूचक बाल के यहां गिरने से इसे "बाल-हद" भी बताते हैं। किंतु वस्तुतः इस शब्द की दो ही व्युत्पत्तियाँ समीचीन जान पड़ती हैं—एक "वर-हद" अर्थात् सुंदर सरोवर और दूसरी "बल-हद" अर्थात् बलदेव जी का ताल।

बरहद सबंधी प्रचलित जन-श्रुति—बरहद में मंदिर के पंडे-पुजारियों के कुछ घर हैं। ये लोग अधिकांशतः अशिक्षित किंवा अल्पशिक्षित हैं। निदान बरहद के संबंध में उनकी जानकारी का मुख्य आधार शास्त्र नहीं श्रुति-परंपरा ही है। उनका कहना है :—

"प्राचीन-काल में बरहद के आस-पास अत्यंत विस्तीर्ण और सघन वन था। महाभारत युद्ध प्रारंभ होने के समय बलदेव जी श्रीकृष्ण के परामर्श से तीर्थ-यात्रा के लिए निकल गए। नैमिषारण्य में उनके द्वारा सूतजी का वध हुआ जिससे उन्हें ब्रह्म-हत्या का पाप लगा। इससे उनको हथेली में एक बाल उग आया। अस्तु, क्रमशः विचरण करते हुए जब वह वर्तमान बरहद के निकट पहुँचे तो वहाँ देखा कि एक असहाय स्त्री अपने मृत पति का शिर गोद में रखे करुण स्वर से विलाप कर रही है। पूछने पर ज्ञात हुआ कि वे मथुरा के सुमेद और लीला नाम के ब्राह्मण-दंपति थे, और सोरों की यात्रा के लिए निकले थे। मार्ग में प्यास से व्याकुल पति का जल प्राप्त न होने के कारण देहावसान हो गया। यह देखकर बलदेव जी को दया आई। उन्होंने द्वारका से अपने आयुधों का आवाहन किया। और उनके प्राप्त होने पर तत्काल हल और मुशल की सहायता से वर्तमान सरोवर का निर्माण किया। जल प्राप्त होने पर ब्राह्मण जीवित होकर उठ बैठा। साथ ही उस जल के पवित्र स्पर्श से बलदेव जी की हथेली का पाप-सूचक बाल भी वहीं टूटकर गिर गया। स्थान की ऐसी विलक्षण महिमा देखकर बलदेव जी वहीं रुक गए और उन्होंने उसी स्थान पर दीर्घ-काल तक तप करते हुए अपना शरीर त्यागा। भाद्रपद शुक्ल षष्ठी को इसी के उपलक्ष्य में यहां प्रतिवर्ष बड़ा भारी मेला लगता है।

जन-श्रुति की विवेचना—श्री बलदेव जी की तीर्थ-यात्रा की बात "महाभारत" "विष्णु" और भागवत" पुराण में मिलती है।

कतिपय स्तोत्रों में उनके लिए "तीर्थ-यात्रा करः प्रभुः" "नैमिषारण्यं यात्रार्थी" एवं "गोमती तीर वासकृत" आदिक शब्दों का प्रयोग हुआ भी है। सूत जी के वध की बात भी यथार्थ है। किंतु, उक्त ग्रंथो से ही प्रमाणित है कि उन्होंने इस पाप का प्रक्षालन पुनः नैमिषारण्य जाकर ही किया था, अन्यत्र नहीं। साथ ही यह भी सब जानते हैं कि बलदेव जी ने अपनी ऐहिक लीला संवरण द्वारका के निकट प्रभाष-क्षेत्र में ही किया था। दूसरे भाद्रपद जैसे पावसी मास में किसी स्थल के नितांत जल-शून्य होने की बात भी उपहासास्पद है। अतः जान पड़ता है किसी ने बरहद की महिमा में और अधिक वृद्धि करने के अभिप्राय से इस कहानी की कल्पना की है।

अस्तु, इसमें कोई संदेह नहीं कि बरहद ठेठ व्रज की सीमा के अंतर्गत एक अत्यंत रमणीक और प्राचीन स्थान है। इसका आभास हमें उसकी बस्ती, उसके मंदिर, उसके सरोवर और उसकी पृष्ठ-भूमि से सहज ही मिल जाता है। कौन जाने उसे कभी रासरसिक मनमोहन की मुरली से निनादित एवं नृत्यमयी गोपांगनाओं के नूपरों से क्वणित होने का सौभाग्य भी प्राप्त हुआ हो!

—:—

एटा,
१५-१-१९५५